VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2012 TO 31.12.2014)

६३, ६ सितम्बर–2014

विश्वज्योति

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

संस्थापक–सम्पादक :

स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:

प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल

(सञ्चालक)

आदरी सह–सम्पादक :

प्रो. त्रिलोचनसिंह बिन्द्रा

उप–सम्पादक :

डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर

होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द

चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल

होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला

पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर–146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882-223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882-224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
सुश्री पंखुरी शर्मा	ध्यान, साथ हमारे	कविताएँ	2
डॉ. आशा सिंह	प्राचीन संस्कृत-वाङ्मय में नैतिक-मूल्य	लेख	3
डॉ. विजयप्रकाश त्रिपाठी	आत्मविश्वास से मिलती है सफलता	लेख	8
डॉ. सुनीता कुमारी	मूल्यपरक नैतिक-शिक्षा और संस्कृत-साहित्य	लेख	10
डॉ. किशनाराम बिश्नोई	विश्व के प्रथम पर्यावरणविद् – गुरु जम्भेश्वर	लेख	13
डॉ. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा	छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक का तथ्य	लेख	18
श्री प्रियव्रत शर्मा	वि. संवत् 2072, शक संवत् 1937, ई. सन् 2016 में होलिकादहन-दिन-कालनिर्णय	लेख	21
डॉ. नीरू मेहता	मानवीय-धर्म तथा तुलसीकाव्य	लेख	24
श्री सीताराम गुप्ता	मन की शक्ति द्वारा एकाग्रता की प्राप्ति	लेख	27
प्रा. सौ. सुनिता गाजरे	गौतम बुद्ध की शिक्षा-नीति	लेख	29
डॉ. विशाल भारद्वाज	संस्कृत-साहित्य में 'माता' का स्थान	लेख	31
डॉ. चित्रा जैन	रामायणकथा का ज्वलन्त सन्दर्भ- भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यदृष्टियों का अन्तर्द्वन्द्व	लेख	33
डॉ. रूबी जैन	ईशोपनिषद्-उपदिष्ट नीति की आधुनिक युग में प्रासंगिकता	लेख	37
श्री रमेश कुमार	सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय	लेख	40
	संस्थान-समाचार		46
	विविध-समाचार		47

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६३ होश्यारपुर, भाद्रपद २०७१; सितम्बर २०१४ संख्या ६

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां
त्वां नो गोपाः परिपाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवो
ऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥

(अथर्ववेद, 5. 3. 2)

हे अग्निदेव! (मन्युं) शत्रुओं के कोप (से भरे आक्रमण) (प्रतिनुदन्) को पीछे धकेलते हुए तुम (नो) हमारे (गोपाः) रखवाले बनकर (विश्वतः) सब ओर से (परिपाहि) हमारी रक्षा करो। हमारी (निवता) हानि चाहने वाले (अपाञ्चो) नीचे धकेले जाकर (दुरस्यवो यन्तु) दूर भागें। (जब वे अपने) घर पर (भी अनिष्ट-चिन्तन करते हुए) (प्रबुधां) जागें, तो उनकी (चित्तं) चिन्तनशक्ति (वि नेशत्) विनष्ट हो जाय। (वेदसार-विश्वबन्धुः)

ध्यान

– सुश्री पंखुरी शर्मा

तुम उठती गिरती एक लहर,
जीवन के मीठे पानी की।
तुम उड़ कर चलती एक लहर,
बजह मेरी हैरानी की॥

मिट्टी के गीले घरौंदों से,
जो सोंधी खुशबू आती है।
सूरज उगने से पहले
जो लाली नभ पर छाती है॥

कभी सुनाद नदियों के अन्दर,
मछलियाँ गीत जो गाती हैं।
वो और नहीं कुछ बस मुझको,
तुम तक यूँ पहुँचाती हैं॥

जैसे माँ अपना जीवन,
अपने बच्चों के नाम करे।
जैसे कोई बैरागी फक्कड़
ध्यान सुबह और शाम करे॥

जैसे शीतल पवन बसन्ती,
पेड़ों से बतियाती है।
ऐसे ही प्रभु! पूर्ण दिव्यता
तुमसे मुझ तक आती है॥

साथ हमारे

– सुश्री पंखुरी शर्मा

मैं संग चलूँगी साथ तुम्हारे।
संग हमारे, नदी चलेगी लहरों पर।
हवा चलेगी पंखों पर।
जमीं चलेगी ले के नज़ारे॥
और चलेगा
आसमान भी बिना सहारे।

जब सारी सृष्टि साथ हमारे
तब सृष्टि का कण-कण
सुनता है जिसके इशारे।
जिसको कहते हैं हम 'ईश्वर'
उसको भी तो चलना होगा।
साथ हमारे।
बिना पुकारे॥

83, पान दरीबा, इलाहाबाद चौक,
इलाहाबाद (उ. प्र.)

की उत्पत्ति हो गई थी, उसी के साथ-साथ सत्य भी उत्पन्न हुआ।[3] सत्य सर्वोपरि है। सत्य मनुष्य के धर्मों में प्रमुख है। दुष्कृत ऋतमार्ग को पार नहीं कर सकता।[4] असत्य से विरत रहना चाहिए[5] और कहा गया है कि मैं वाणी के सत्य को प्राप्त करूँ।[6] यजुर्वेद में अहिंसा के विषय में कहा गया है कि हे विद्वानों! आप मेरी विद्या, बुद्धि आदि को नष्ट मत करो।[7] वस्तुत: अहिंसा व्यक्ति को दीर्घजीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। ऋषियों को वाणी का माधुर्य अभीष्ट है।[8] यजुर्वेद का स्वस्ति-वाचनमन्त्र विश्वशान्ति का सन्देश देता और सभी प्रकार से शान्ति की कामना करता है।[9]

वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण भूमि को माता मानकर स्वत: ही सम्पूर्ण प्राणियों को परस्पर एक अखण्ड सम्बन्ध में बाँधा है।[10-11] यजुर्वेद में कर्मशीलता[12], विश्वप्रेम[13], विश्वकल्याण की भावना[14], सत्संग[15], धैर्य[16], ब्रह्मचर्य[17], सन्तोष[18], ईश्वरीय शक्ति में विश्वास[19], स्वाध्याय[20] आदि मानवीय मूल्यों के वर्णन प्राप्त होते हैं। मधुर वचन बोलना और सुनना श्रेष्ठ है, परनिन्दा नहीं।[21] मेरा मन शुभ-संकल्पों वाला बन जाय तथा सर्वदा असत् और अशुभ से दूर रहे।[22] सर्वत्र मैत्री-भावना प्रसारित हो। सभी परस्पर एक-दूसरे को मैत्री-भाव से देखें।[23]

उपनिषद् तो मानवीय नैतिक-मूल्यों के भण्डार हैं। उनमें सर्वत्र मानव को उच्चतम मूल्यों पर चलने का संदेश दिया गया है। ईशावास्योपनिषद् का यह एक ही मन्त्र अनेक मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति कर रहा है।[24] इस मन्त्र में विशेषत: अनासक्ति और अपरिग्रह की चर्चा हुई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में श्रद्धा और विनम्रता का प्रतिपादन दर्शनीय है। आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् की अभिव्यक्ति भी द्रष्टव्य है।[25] पुराणों में परोपकार, अहिंसा, दया, त्याग, तपस्या आदि मानवीय नैतिक मूल्यों का वर्णन स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। पुण्य और पाप की परिभाषा करते हुए महर्षि व्यास ने पुण्य और पाप की परिभाषा करते हुए कहा है कि परोपकार करना पुण्य तथा दूसरों को दु:ख देना पाप है।

श्रीमद्भागवतपुराण में भगवान् विष्णु देवताओं से दधीचि मुनि के परोपकार का वर्णन करते हैं।[26] भक्त प्रह्लाद बाल्यकाल से ही

---

3. ऋग्वेद, 10.190.1.
4. ऋग्वेद, 9. 73. 6.
5. यजुर्वेद, 5, 1.
6. यजुर्वेद, 4, 39.
7. यजुर्वेद, 5, 34.
8. ऋग्वेद, 2,21,6.
9. यजुर्वेद, 36, 17.
10. ऋग्वेद, 10,191,2.
11. अथर्ववेद, (12)1, 12.
12. यजुर्वेद, 40, 2.
13. यजुर्वेद, 40, 6.
14. यजुर्वेद, 16, 48.
15. यजुर्वेद, 12, 9.
16. यजुर्वेद, 1, 23.
17. यजुर्वेद, 6, 14.
18. यजुर्वेद, 40, 1.
19. यजुर्वेद, 22, 9.
20. यजुर्वेद, 26, 2.
21. यजुर्वेद, 25, 21.
22. यजुर्वेद, 34, 1.
23. यजुर्वेद, 33, 18.
24. ईशावास्योपनिषद्, 1.
25. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1, 11.
26. भागवतपुराण, 6/9/52-53.

प्राणीमात्र के प्रति दया और परोपकार की भावना रखते थे।[27] महात्मा दधीचि ने वृत्रासुर के वध के लिए देवताओं को अपने शरीर को परोपकारार्थ दिया था। देवगण दधीचि ऋषि से कहते हैं– ब्राह्मण! आप जैसे उदार और प्राणियों पर दया करने वाले महापुरुष प्राणियों की भलाई के लिए कौन-सी वस्तु न्यौछावर नहीं कर सकते?[28]

श्रीमद्भागवतपुराण में बिछुड़े हुए मृगशावक के प्रति भरत की दया और परोपकारिता सुप्रसिद्ध ही है।[29] श्रीमद्भागवतपुराण में ही सेवा[30], उदारता[31], शान्ति[32], धैर्य[33], क्षमा[34], सत्यता[35], सहिष्णुता[36] आदि मानव-मूल्यों की अभिव्यंजना हुई है। वस्तुतः लौकिक संस्कृत-साहित्य के मूलप्रेरक ही करुणा और अहिंसा– ये मानवीय मूल्य रहे हैं, तभी तो महर्षि वाल्मीकि के मुख से अकस्मात् वाणी फूट पड़ी।[37] महर्षि वाल्मीकि जीवन का सर्वोच्च नैतिक-मूल्य और आदर्श धर्म को मानते थे।

सत्य उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म है। सत्य ही ब्रह्म है। सत्य में धर्म प्रतिष्ठित है। सत्य ही ईश्वर है तथा समस्त सृष्टि का मूल सत्य है।[38-39] वे नैतिक-मूल्यों का उल्लंघन कथमपि सहन नहीं कर सकते। वे जीवन को मानवीय मूल्यों से समन्वित देखना चाहते थे। रामायण के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि महर्षि वाल्मीकि की दान, तपस्वियों और ब्राह्मणों के सम्मान में गहरी आस्था थी।[40] वाल्मीकि की दृष्टि में यही आदर्श प्रेम है, जिसमें प्रेमी अपने को प्रेमपात्र से भिन्न अनुभव नहीं करता। इसीलिए सीता के सम्बन्ध में अन्यत्र कवि का कहना है– **रोहिणीव शशांकेन रामसंयोगमाप सा।**[41] आदर्श दाम्पत्य-प्रेम एकपक्षीय नहीं होता। राम के मुख से महर्षि ने दाम्पत्य-प्रेम का समुन्नत आदर्श उपस्थित किया है।[42]

महाकवि भवभूति ने भी इसी प्रकार दाम्पत्य-प्रेम की अभिव्यंजना की है।[43] महर्षि वाल्मीकि ने मित्र के संबंध में[44], भ्राता के संबंध में[45], प्रेम का व्यापक एवं सजीव चित्रण किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा की प्रजा के प्रति सहानुभूति और वात्सल्य-भावना का सुन्दर वर्णन मिलता है।[46] शकुन्तला का प्रकृति प्रेम[47] द्रष्टव्य है। वहाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि यदि

27. भागवतपुराण, 7/6/24.
28. भागवतपुराण, 6/10/5.
29. भागवतपुराण, 5/8/7; 9–10.
30. भागवतपुराण, 10/ 59/ 45.
31. भागवतपुराण, 9/ 21/ 12.
32. भागवतपुराण, 9/19/ 14–15.
33. भागवतपुराण, 8/ 21/ 28.
34. भागवतपुराण, 1/ 7/ 42–47.
35. भागवतपुराण, 9/ 7/ 24.
36. भागवतपुराण, 4/11/13.
37. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 2/ 15.
38. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 2/14/3–7.
39. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 2/109/13.
40. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 2/32/5.
41. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 2/16/42.
42. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 4/ 1/ 52.
43. उत्तररामचरितम्, 1/ 39.
44. वा. रा., 4/8/8–9.
45. वा. रा., 6/101/14; 6/109/25.
46. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/ 29.
47. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/ 9.

मनुष्य पशु–पक्षियों के प्रति सहृदय होता है, तो वे भी मानव के प्रति आत्मीयता प्रकट करते हैं।[48] गुरुजनों की सेवा और छोटों के प्रति उदारता की भावना से ही शान्ति मिल सकती है।[49] अतिथि–सत्कार नहीं करना भारतीय–संस्कृति में हेय एवं दण्डास्पद माना गया है।[50]

महाकवि माघ अतिथि–सत्कार को स्पृहणीय मानते थे।[51] श्रीहर्ष भी अतिथि–सत्कार को बहुत बड़ा गुण मानते थे।[52] आचार्य शुक्र का कहना है कि घर में यदि छोटे से छोटा अतिथि भी आ जाये तो उसकी पूजा करनी चाहिए तथा सभी प्रकार से उसका कुशलक्षेम पूछना चाहिए।[53] महाभारत उपनिषदों की भाँति मानवीय नैतिक–मूल्यों के दृष्टान्तों से भरा हुआ है। महाभारत में सत्यनिष्ठा पर पर्याप्त बल दिया गया है।[54] महाभारत में सत्य की भाँति क्षमाशीलता द्रष्टव्य है।[55]

नाटककार भास ने भगवान् विष्णु में अपने पात्रों के माध्यम से स्थान–स्थान पर श्रद्धा प्रकट की है।[56] महाकाव्यकार अश्वघोष जीवन में तप, दम और शम को उत्कृष्ट मूल्य मानते थे।[57] वे प्रियभाषण तथा दान को मानवीय मूल्य मानते हुए जीवन के प्रमुख आदर्शों में गिनते हैं।[58] महाकवि कालिदास व्रत के समय मन–संयम रखने को आवश्यक मानते थे।[59] वे काव्य द्वारा मानव–समुदाय को त्याग और तप के मार्ग पर प्रवर्तित करना चाहते हैं।[60] उनकी परोपकार में गहरी आस्था थी।[61] नाट्यकार हर्ष मानते हैं कि परोपकार के लिए बीभत्स–दर्शन देह को बलिदान कर देने में ही जीवन की सार्थकता है।[62]

माघ ने भी परोपकार और दान की बार–बार प्रशंसा की है।[63] भारवि को सत्यवादिता और कर्तव्यपरायणता अभीष्ट थी।[64] उनके अनुसार मनुष्य को विनयी होना चाहिए।[65] माघ की दृष्टि में विनय[66], क्षमा और उदारता[67] सर्वोच्च मानवीय मूल्य हैं। भारवि की दृष्टि में तितिक्षा सफलता का सबसे बड़ा साधन है।[68] वे जीवन में धैर्य और संयम का आचरण करने की शिक्षा देते हैं, जबकि क्रोध और त्वरा उनकी दृष्टि में विनाशकारक हैं।[69] वे तो यहाँ तक भी कह देते हैं कि किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण ही उसकी श्रेष्ठता के मानदण्ड हैं, उनकी संहति या आकार नहीं।[70]

---

48. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/12. 49. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/ 18.
50. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/1. 51. शिशुपालवधम्, 4/10, 5/1. 52. नैषधीयचरितम्, 8/21.
53. शुक्रनीति, 3/104. 54. महाभारत, शान्तिपर्व, 162/ 5. 55. महाभारत, आदिपर्व, 79/3.
56. प्रतिमानाटक, 1/1,1/52, 1/1, म. अभिषेक व्यायोग।
57. सौन्दरानन्द, बुद्धचरित 1/2-7, 2/52. 58. बुद्धचरितम्, 2/34-44, 50-52.
59. विक्रमोर्वशीयम्, 3/12. 60. रघुवंशम्, 14/66. 61. रघुवंशम्, 8/31.
62. रघुवंशम्, 5/23. 63. शिशुपालवधम्, 2/104, 16/22, 14/44-50.
64. किरातार्जुनीयम्, 1/4. 65. किरातार्जुनीयम्, 1/6. 66. शिशुपालवधम्, 17/18.
67. शिशुपालवधम्, 15/68, 16/23-25. 68. किरातार्जुनीयम्, 2/42.
69. किरातार्जुनीयम्, 2/31,37-39. 70. किरातार्जुनीयम्, 2/5, 4/25.

माघ भी व्यक्ति की गुणग्राहिता को श्रेष्ठ मानते हैं।[71] स्वार्थ हेय है, निःस्वार्थता उत्तम मानवीय मूल्य है, अतः विशाखदत्त निःस्वार्थता को सर्वोपरि मानते हैं।[72] वे अनुशासन पर ध्यान आकर्षित करते हैं, यहाँ तक कि राजाओं को भी अनुशासन में रहना चाहिए।[73] भवभूति मधुर वाणी को श्रेष्ठ मानवीय मूल्य मानते थे और उन्होंने इस पर अत्यन्त बल देते हुए वाणी में मृदुता और संयम का होना परमावश्यक बताया है।

क्षेमेन्द्र मानते हैं कि मात्सर्य-त्याग, प्रियभाषण, धैर्य, अक्रोध तथा परवस्तु में वैराग्य- ये सब सुख की कलाएँ हैं तथा सत्संग, कामजप, पवित्रता, गुरुसेवा, सदाचार आदि शील की कलायें हैं।[74] क्षेमेन्द्र परोपकार[75], सत्य[76], दान[77] और अहिंसा[78] के बार-बार गुण गाते हैं। वे उत्तम आचरण को सर्वाधिक महत्व देते हैं।[79] वे आलस्य को हेय बताते हुए कर्मठ जीवन व्यतीत करने की बात करते हैं।[80] भवभूति सत्संग में मूल कारण पूर्वजन्म के पुण्य-कर्मों को स्वीकार करते हैं।[81] शूद्रक का मृच्छकटिक प्रकरण तो वस्तुतः परोपकार, उदारता, दयालुता, दान, क्षमा, त्याग, सच्चरित्रता, मित्रता, सहनशीलता, कृतज्ञता, शरणागत-वत्सलता, कर्तव्य-निष्ठता आदि मानवीय नैतिकमूल्यों का साक्षात् निदर्शन ही है। इसके नायक चारुदत्त में इन उदात्त मानवीय मूल्यों का चरमोत्कर्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। चारुदत्त के द्वारा अपराधी परन्तु शरणागत शकार को क्षमा दान दे दिया जाता है।[82] संवाहक के कथन में आदर-सत्कार द्रष्टव्य है।[83] इसी तरह अन्यत्र भी संस्कृत-वाङ्मय में ऋत[84], धैर्य[85], दम[86], ऋजुता[87], शौच[88], सन्तोष[89] इत्यादि मानवीय नैतिक-मूल्यों के असंख्य उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

अतः स्पष्ट है कि संस्कृत-वाङ्मय में निहित मानव के नैतिक-मूल्यों को भारतीयों के द्वारा आचरण में ग्रहण करने के महत्त्व के कारण ही जगत् में भारत की प्रतिष्ठा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। अतः सभी का कर्त्तव्य है कि प्राचीनकाल से चली आ रही उस प्रतिष्ठा को अपने आचरण से आगे भी वृद्धि प्रदान करने की चेष्टा करें।

– असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
शासकीय कमला राजा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ग्वालियर (मध्यप्रदेश)।

71. शिशुपालवधम्, 15/ 42-43.
72. मुद्राराक्षस, 3/15-16.
73. मुद्राराक्षस, 3/6.
74. कलाविलास, 10/2, 8.
75. चतुर्वर्ग, 1/9, 20, 27.
76. चतुर्वर्गसंग्रह, 1/10, 11, 27.
77. चतुर्वर्गसंग्रह, 1/9, 10, 18; 3/71-72 और दर्पदलन
78. चतुर्वर्गसंग्रह, 1/12-13.
79. चारुचर्या, 1.
80. चतुर्वर्गसंग्रह, 2/21.
81. उत्तररामचरितम्, 2/1.
82. मृच्छकटिकम्, अं.10, पृ. 525.
83. मृच्छकटिकम्, 2/15.
84. ऋग्वेद, 9/73,6; 10/66/13.
85. ऋग्वेद, 9/73/3.
86. ऋग्वेद, 8/44/15.
87. ऋग्वेद, 1/90/1.
88. ऋग्वेद, 9/107/10.
89. भागवतपुराण, 7/15/16-17.

आत्मविश्वास से मिलती है सफलता

—डॉ. विजयप्रकाश त्रिपाठी

जीवन के संघर्ष में वही मनुष्य स्थिर रह सकता है, जिसमें अदम्य आत्मविश्वास है। यह सम्पूर्ण विश्व नाना प्रकार की बाधाओं, विपत्तियों और विरोधों से ठीक उसी प्रकार भरा हुआ है, जिस तरह समुद्र मगर व मछलियों से भरा रहता है। इसीलिए संसार को भवसागर भी कहते हैं। सम्प्रति आए दिन लोग बड़े-बड़े दुर्लभ्य महासागर को पार करते रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र की भीषण यात्रा का साधन जहाज होता है, उसी प्रकार जीवनरूपी भवसागर से पार करने का साधन आत्म-विश्वास होता है।

जिसके पास अदम्य और अडिग आत्म-विश्वास की सम्पत्ति होती है, उसके पास भले ही कोई साधन हों या न हों, वह अपने जीवन को सार्थक व सफल बना ही लेता है। अत: जीवन की सफलता के लिए पहली आवश्यकता है—आत्मविश्वास। साधनों का प्रचुर भण्डार होने पर भी यदि मनुष्य के पास आत्म-विश्वास की कमी है तो वह सफलता के शिखर पर उसी प्रकार नहीं जा सकता, जिस प्रकार हाथ में शस्त्र होते हुए भी कायर व्यक्ति कोई जौहर नहीं दिखला सकता। आत्मविश्वासी व्यक्ति साधनहीनता की अवस्था में भी अपना मार्ग प्रशस्त कर लेता है। अत: कार्य की सफलता में केवलमात्र साधन को कारण मानकर चलना ही श्रेयस्कर नहीं क्योंकि सफलता का मूल आधार आत्मविश्वास ही है, साधन की प्रचुरता नहीं।

अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन जितने महान् हुए हैं, उससे कहीं अधिक वे साधनहीन थे। अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा, सुरक्षा और सहयोग सभी साधनों का अभाव था उनके पास। यदि कोई पारसमणि थी उनके पास, तो वह था उनका अदम्य आत्मविश्वास। एक अकेले आत्मविश्वास के बल पर ही उन्होंने अपने इस असम्भव जैसे संकल्प को पूरा कर दिखाया, "मैंने अपने भगवान् को वचन दिया है कि गरीबी उन्मूलन के कार्य को मैं अवश्य पूरा करूँगा।"

इसी प्रकार फ्रान्स के महान् नायक नेपोलियन बोनापार्ट के पास शुरु में कोई भी साधन न था, जिनके आधार पर वह फ्रान्स का इतिहासपुरुष बना। साधनों के नाम पर न तो उसके पास रोटी थी न कपड़ा। तब भी उसने न केवल फ्रान्स के ही अपितु विश्व के इतिहास में अपना नाम जोड़ा। उसका वह आत्मविश्वास ही था, जिसके बल पर उसने साधन अर्जित किए और फ्रान्स को एक अदम्य राष्ट्र बनाने का श्रेय पाया। वह कहता था, "यदि हमारा मार्ग रोकता है तो आल्पस पर्वत ही नहीं रहेगा।" यदि उसके स्थान पर आत्मविश्वास-हीन कोई दूसरा मनुष्य होता तो अपने सैनिकों की बात सुनकर कि 'आल्पस पर्वत है, बढ़ा नहीं जा सकता।' निराश तथा हतोत्साहित हो जाता। किन्तु अदम्य आत्मविश्वास ने अपना विश्वास प्रकट किया जिसका फल यह हुआ कि आल्पस को काटकर रास्ता निकाल लिया गया।

महान् नाविक कोलम्बस ने महासागर के दूसरे छोर एक विशाल देश का अनुमान किया और तत्कालीन अविकसित जहाज को लेकर विशाल महासागर की छाती पर लहरों और तूफानों से टक्कर लेता हुआ तैर चला। महीनों-

वर्षों उसका जहाज उस अतल सागर में तैरता चलता रहा। लेकिन किसी देश व द्वीप के दर्शन नहीं हुए। उसके साथी निराश होकर विरोध करने लगे, किन्तु उस अदम्य विश्वासी ने साहस तथा आशा का साथ नहीं छोड़ा, वह यात्रा करता ही रहा और अन्त में अमेरिका जैसे देश को खोज ही लिया। उसकी यह विशाल सफलता भी उसके अखण्ड आत्म-विश्वास के परिपाक के सिवाय और कुछ तो नहीं थी।

आज भी लोग आए दिन पचासों मील लम्बी-चौड़ी नदियाँ और उपसागरों को तैर कर पार करते रहते हैं। मनुष्य का स्वाभाविक बल इतना कहाँ कि वह उस कठिन संतरण को केवल तैरने की कला के आधार पर पूरा कर सके। यह उनका अदम्य आत्मविश्वास ही होता है, जो उन्हें थककर भी थकने और हारकर भी हारने नहीं देता। एक महान् नौका की तरह ले जाकर पार लगा देता है। आत्मविश्वास को मानव जीवन की नौका ही माना गया है। यदि मनुष्यों के पास आत्मविश्वास न हो तो वे संसार की लाखों आपत्तियों, विपत्तियों, उलझनों और समस्याओं से कैसे पार पाएं? यह उनका आत्मविश्वास ही होता है, जो संकटों में भी धीर पुरुषों को सक्रिय तथा साहसी बनाए रहता है।

मनुष्य में एक नहीं अनेक प्रकार की शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है। वह सर्व समर्थ ईश्वर का अंश जो है। उसमें उसी प्रकार की दिव्य शक्तियों के न होने की कल्पना करना असंगत ही नहीं अन्याय भी है। विश्व में ईश्वर की सर्वसत्ता विद्यमान है किन्तु उसका सानिध्य उसी को नसीब हो सकता है, जो आस्तिकभाव का होता है। नास्तिक उस असीम और अनन्त सत्ता से वंचित रहता है। जो परमात्मा को छोड़ देता है, परमात्मा उसे पहले त्याग देता है। इसी प्रकार जो आत्मा में, अपने में विश्वास नहीं करेगा, वह अपनी शक्तियों से वंचित ही रह जायेगा। अविश्वास से अविश्वास का जन्म होता है। अपनी आत्मा, अपनी शक्तियाँ भी उसमें अविश्वास करने लगती हैं। भीतर ही भीतर निरपेक्ष भाव से सोई पड़ी रहती हैं, जागकर न तो उसकी सहायता के लिए व्यक्त होती हैं और न संकट आपत्तियों में उसकी रक्षा करती हैं। ऐसे व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियाँ कुंठित होकर रुक जाती हैं।

आत्मविश्वास का वास्तविक अर्थ है- अपनी आत्मसत्ता में विश्वास करना। अपने को मांसपिण्ड रूप शरीर न मानकर आत्मा मानना और उसी के प्रकाश से प्रेरित होना। जो अपनी आत्मा की अजेय सत्ता में विश्वास करता है, अपने जीवन की महत्ता व उपयोगिता को स्वीकार करता है, उसे अनुभव करता है, वही आत्म-विश्वासी होता है और वही जीवन में उपस्थित सभी विपत्तियों को हंसते-हंसते सहन कर लेता है। जिसे अपनी आत्म-सत्ता में विश्वास नहीं होता, वह अपनी सारी विशेषताओं से रहित होकर परावलम्बी बन जाता है। उसे साधारण समस्याओं तथा उलझनों से ही जब अवकाश नहीं मिल पाता तो कोई उपयोगी तथा महान् कार्य करने के लिए किस प्रकार साहस पा सकता है। अत: यह निश्चित है कि आत्मविश्वास मनुष्य को सभी प्रकार के भय, सन्देह, आशंका तथा भीरुता से मुक्त बना देता है। उसमें साहस, उत्साह, आशा और पराक्रम का संचार करता है। उन्नति के शोभनीय शिखर की ओर प्रेरित ही नहीं करता अपितु उसका महानतम सम्बल बनता है। आत्मविश्वास उन्नति-प्रगति, सफलता तथा सार्थकता का मूल-मंत्र है। उसे जगाना ही चाहिए और श्रीवृद्धि करते ही रहना चाहिए।

– 86/323, देवनगर, कानपुर-208003 (उ. प्र.)

मूल्यपरक नैतिक-शिक्षा और संस्कृत-साहित्य

-डॉ. सुनीता कुमारी

संस्कृत-साहित्य प्रारम्भ से ही 'मूल्य एवं नैतिकता' की मौलिकता को विकृत करने वाले कृत्यों की निंदा करते हुए मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करने की संस्तुति करता रहा है, चाहे इसके रचनाकार वैदिक द्रष्टा अथवा औपनिषदिक ऋषि रहे हों अथवा लौकिक महाकाव्य के महाकवि हों या पौराणिक कथानक के कथाकार रहे हों अथवा धर्मशास्त्रों के सूत्रकार या भाष्यकार रहे हों। 'मूल्य एवं नैतिकता' का अपना महत्त्व होता है परन्तु सामाजिक-संरचना एवं आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में 'मूल्य एवं नैतिकता' का वर्गीकरण भी हुआ है। जैसे सार्वभौमिक-मूल्य एवं नैतिकता, आध्यात्मिक-मूल्य एवं नैतिकता, धार्मिक-मूल्य एवं नैतिकता, सामजिक-मूल्य एवं नैतिकता, शैक्षिक-मूल्य एवं नैतिकता, आर्थिक-मूल्य एवं नैतिकता, राजनीतिक-मूल्य एवं नैतिकता आदि। इस वर्गीकृत मूल्य एवं नैतिकता का सामाजिक-व्यवस्था को बनाए रखने में अपना महत्व एवं योगदान होता है जो प्राय: स्वीकार्य होता है। क्योंकि इनसे समाज एवं मानव का कल्याण तो होता ही है उसके उद्देश्य एवं लक्ष्य की भी पूर्ति होती है।

इसके विपरीत लोग अपने संकीर्ण विचार एवं स्वार्थ के वशीभूत मूल्य एवं नैतिकता की महानता को लघुता प्रदान करने को संनद्ध हो जाते हैं जिनके कारण मूल्य एवं नैतिकता की सार्थकता एवं प्रासंगिकता पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगता है। संस्कृत-साहित्य मनुष्य की इसी लोलुपता एवं संकीर्णता से मूल्य एवं नैतिकता की मौलिकता को विकृत होने से बचाने का प्रयास करते हुए मूल्यपरक एवं नैतिक-शिक्षा प्रदान करने की संस्तुति भी करता है।

संस्कृत-साहित्य में विवेचित विचार, सिद्धांत, निर्देश आज के परिप्रेक्ष्य में मूल्यपरक शिक्षा के सशक्त एवं सार्थक प्रयास माने जा सकते हैं। इनके माध्यम से मूल्य एवं नैतिकता में हो रहे अवमूल्यन को अल्प करके इनका संवर्द्धन एवं संरक्षण किया जा सकता है। भौतिकवादी एवं भोगवादी संस्कृति में मूल्य एवं नैतिकता के नाम पर जो बौद्धिक व्यभिचार चल रहा है, इसकी विद्रूप विभीषिका और त्रासदी से मानव-जीवन को आगाह कराने के लिए उसे सांस्कृतिक चेतना में निहित मूल्य एवं नैतिकता की मौलिक अवधारणा एवं अर्थ के कतिपय बिन्दुओं से अवगत कराना आवश्यक है। मूल्यपरक शिक्षा

प्रदान कराने का यही मूल उद्देश्य रहा है जिसे संस्कृत-साहित्य में निहित विचार, सिद्धांत, निर्देश के माध्यम से अधिक प्रभावी एवं सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

भारतीय-संस्कृति जिसका प्रमुख संवाहक संस्कृत-साहित्य रहा है, उनमें प्रारम्भ से ही मूल्य एवं नैतिक-चेतना के रूप में मूल्यपरक शिक्षा प्रदान की जाती रही है। यहाँ मनुष्य का परिवार, कुटुम्ब, समाज, देश और सम्पूर्ण वसुधा को उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दृष्टि से निरंतर मूल्यपरक शिक्षा के विविध आयाम से युक्त चिंतन एवं मनन होता रहा है। संस्कृत-साहित्य अध्यात्म और विज्ञान के सिद्धातों से युक्त वह अद्भुत संग्रहराशि है जिसमें मूल्यपरक शिक्षा के बहुविध प्रसंग प्राकृतिक रूप से निबन्धित हैं। मानव क्या है? उसके जीवन का उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या है? वह आनन्द का जीवन कैसे जिए? व्यक्ति पूर्णता को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? आदि अनेक प्रश्न हैं जिनके सम्यक् समाधानहेतु मनीषी, चिंतक, शिक्षाविद् प्रयासरत रहे हैं। संस्कृत-साहित्य का योगदान इस दिशा में अप्रतिम रहा है।

वस्तुत: मानवमात्र शरीर नहीं है। वह शरीर में प्राणतत्व एवं आत्मा को भी धारण करता है। उसकी सम्पूर्ण जीवन-क्रिया को मन संचालित करता है। क्या केवल शरीर-पोषण ही मानवोचित कर्त्तव्य है? इसका नित्य मंथन हुआ है। यह न केवल मूल्य की महत्ता एवं नैतिकता की चेतना को औचित्य प्रदान करता है अपितु मूल्यपरक शिक्षा को भी आधार एवं दिशा देने का कार्य करता है। इस प्रकार की चिंतनयात्रा का उद्देश्य एक ओर जहाँ मानव-जीवन को उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण करना रहा है वहीं दूसरी ओर यहाँ के तपस्वी साधक 'सत्य' के अन्वेषण में लगे रहे हैं। यही कारण है कि मनीषियों ने आध्यात्मिक और भौतिक विषय दोनों ही को मूल्य एवं नैतिक चेतना से युक्त माना है। इनको सुनिश्चित करने के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे साधन-चतुष्ट्य या पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का बहुमूल्य मंत्र दिया एवं सांस्कृतिक सनातन मूल्यों को स्थापित कर उन्हें निरंतर सुदृढ़ एवं प्रभावी बनाया जिनमें व्यष्टि और समष्टिगत लोक-कल्याण के सूत्र निहित हैं।

एकाकी मनुष्य का इस जगत् में कोई अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व तभी सार्थक है जब उसके साथ चलने और उसे देखने वाला एक जन-समुदाय भी हो। वह उसे तभी देख पाएगा जब वह अपने को इस योग्य बनाए। भारतीय चिंतनधारा सर्वदा इसी उद्देश्य को पूर्ण करने तथा मानव के कल्याण के लिए प्रयासरत रही है। यही मूल्यपरक शिक्षा का उत्स है जिसके बहुविध आयाम संस्कृत-साहित्य में उल्लिखित हैं। वेद,

वेदांग, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन आदि इसी चिंतनधारा के निदर्शन हैं। क्योंकि मनुष्य का शारीरिक और मानसिक विकास और उत्थान दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण होते हैं। किन्तु मानसिक या आध्यात्मिक विकास अधिक उच्च स्थान रखता है। मानसिक उत्थान से शरीर-पोषण के लिए एकत्रित किए गए भौतिक-साधन मर्यादा के अंतर्गत बंध जाते हैं जो समष्टिगत चेतना के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी माने गए हैं।

भारतीय-संस्कृति अपने मूलरूप में केन्द्रोन्मुखी अर्थात् जागतिक-व्यवहार में रह कर भी आदर्श-केन्द्रित बाह्य परिवेश से विच्छिन्न न होकर भी अंतःस्थ या आत्मस्थ रही है। उसमें कुछ शाश्वत मानवीय मूल्यों को जीवनचर्या में इस प्रकार गूंथ दिया गया है कि सम्पूर्ण जीवन ही संस्कृतिमय प्रतीत होता है। समग्र सांस्कृतिक चेतना ही जीवनोन्मुखी हो उठती है। इसे जीवंतता एवं ओजस्विता प्रदान करने में संस्कृत-साहित्य की भूमिका अविस्मरणीय है।

मूल्यपरक एवं नैतिक-शिक्षा मानव-जीवन के पुनर्निर्माण में प्रभावी है जो मूल्य एवं नैतिकता की नींव पर स्थापित हो सकता है। यह मात्र अध्ययन का ही विषय नहीं वरन् एक जीवन-पद्धति है। यह जनसामान्य के लिए जितना महत्वपूर्ण है उतना ही प्रबुद्ध एवं शैक्षिकवर्ग के लिए भी है। मूल्य एवं नैतिकता मानव-जीवन को संवारने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यही हेय एवं उपादेय, प्रेयस् एवं श्रेयस् के मध्य चयन के मूल्यांकन की दृष्टि प्रदान करते हैं। यही शुभता एवं कल्याणकारी मार्ग के प्रेरक हैं जो सभी के लिए स्वीकृत हैं।

– विभागाध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
बी. एस. एम. पी. जी. कॉलेज, रुड़की (उत्तराखंड)।

विश्व के प्रथम पर्यावरणविद् –
गुरु जम्भेश्वर

– डॉ. किशनाराम बिश्नोई

पर्यावरण से अभिप्राय ब्रह्माण्ड के समस्त परिवेश अथवा परिवृति से है। इसके अन्तर्गत जड़-चेतन के अतिरिक्त वे सभी स्थितियाँ, दशाएँ तथा प्रभाव जो जैविकीय समूह पर प्रभाव डाल रहे हैं, सम्मिलित हैं। इस ब्रह्माण्ड में दो शक्ति और सत्ता आच्छादित हैं। एक जड़ और दूसरी चेतन। इन दोनों को स्थूल और सूक्ष्म भी कहते हैं। इन दोनों का अपना अलग-अलग अस्तित्व और महत्व है। ये दोनों मिलकर एक संयुक्तशक्ति के रूप में विकसित होती हैं। यह काया पाँच तत्वों से निर्मित है परन्तु चेतना के अभाव में यह शरीर अपूर्ण है। इन पाँच तत्वों के साथ चेतना का संयोग होने से ही जड़-चेतन का संयोग रहता है तभी प्राणी जीवित रहता है। जिससे पर्यावरण में सम्मिलित प्रत्येक अवयवों को जाना जाता है तथा प्रत्येक घटकों के मध्य संबंधों को आसानी से समझा जा सकता है। अगर हम पर्यावरण अथवा परिवेश का अध्ययन करें तो हमारा दायरा बहुत बढ़ जायेगा। लेकिन संबंधों एवं वर्गों को ध्यान में रखकर हम पर्यावरण के विभिन्न आयामों को लोक आस्था, मानवीय मूल्यों एवं विश्वासों से जोड़कर इसका व्यापक अध्ययन कर सकते हैं।

गुरु जम्भेश्वर के शिष्यों व अनुयायियों ने प्रकृति की रक्षा को आस्थाशील दृष्टिकोण से देखा है। उनकी दृष्टि में पर्यावरण तथा पेड़-पौधों व जीवरक्षा का प्रकृति से प्रत्यक्ष संबंध है। मानव का अस्तित्व जीव-जन्तु और पेड़-पौधों पर आधारित है। पवित्र और शुद्ध पर्यावरण से ही प्राणियों को जीवनशक्ति प्राप्त होती है यही जीवन शक्ति हमें विधिवत् जीवन जीने की शिक्षा देती है।

पुरुष और प्रकृति का सामंजस्य रखते हुए गुरु जम्भेश्वर जी ने बतलाया है कि मनुष्य की तरह जीव-जन्तु एवं पेड़-पौधों का भी अपना जीवन होता है। जो मनुष्य की तरह भोजन, श्वास, विकास एवं ह्रास जीवन और मृत्यु से संघर्ष करता है। प्रकृति के मुख्य घटकों में मानव, वनस्पति एवं जीव-जन्तु एवं मानवेतर प्राणी हैं। जिनका परस्पर एक-दूसरे से सन्तुलन और सामंजस्य है। इसी कारण प्रकृति में सन्तुलन बनाये रखने का उत्तरदायित्व अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव का अधिक है। शेष सभी का अस्तित्व मानव की इच्छा पर निर्भर है। मानव का हित दोनों को सुरक्षित रखने में है। इसी से प्रकृति के विभिन्न आयामों का सन्तुलन बने रह सकता है। उसी से शुद्ध और स्वच्छ पर्यावरण रह सकता है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर गुरु जम्भेश्वर ने प्रकृति और मानव के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए इस प्रकार का पर्यावरण-संरक्षण सम्बन्धी मूलमंत्र दिया है।

प्रकृति के इस सन्तुलन को समाप्त करने या उसमें किसी भी प्रकार से विषमता पैदा करने का अधिकार मानव को नहीं है। यदि कोई भी ऐसा

करने की चेष्टा करता है तो समझ लो कि वह पर्यावरण को बिगाड़ने की ही चेष्ठा करता है। आज पृथ्वी संताप में है और वह कई तरह की समस्याओं से एक साथ जूझ रही है। आकाश भी आहत है। उनमें से एक है तापमान लगातार बढ़ रहा है। ग्लोबल वार्मिंग से जलवायु परिवर्तन तथा ऋतुचक्र गड़बड़ा गया है। आज प्रकृतिजन्य पदार्थ या प्राकृतिक जीव संकट का सामना कर रहे हैं। प्राणिमात्र के लिए सर्वतोभावेन वांछित जल का अभाव हो रहा है। परम्परागत जलस्रोत लगातार सूख रहे हैं। इसलिए अगला युद्ध पानी के लिए हो सकता है। इस समय जल-संरक्षण की आवश्यकता या चुनौती केवल भारत के लिए ही नहीं अपितु पूरी दुनियाँ के लिए है।

पृथ्वी को प्राणवान् रखने वाले घटक गड़बड़ा गये हैं। अंटार्कटिका की 40 प्रतिशत बर्फ कम हो चुकी है। जिससे समुद्र के किनारे तटीय प्रदेशों का पानी में समा जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। प्रकृति के विनाश की आहट से सूखा बाढ़ और सुनामी का तांडव प्रत्यक्ष देखा गया है। संयुक्तराष्ट्र पर्यावरण आकलन के अनुसार12 प्रतिशत पक्षी, 25 प्रतिशत स्तनपायी और एक तिहाई मेढ़क नष्टप्राय हो गये हैं। 65 प्रतिशत पेगुविन नष्ट हो चुके हैं। संयुक्तराष्ट्र अन्ता-राष्ट्रीय जलवायु परिवर्तन पैनल (आई.पी.सी. सी.) की रिपोर्ट में विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के अनुसार भीषण जलवायु परिवर्तन से डेढ़ लाख अतिरिक्त मौतें हुई हैं।

भविष्य में होने वाली स्थिति पर विचार-विमर्श के लिए पर्यावरण के प्रति सजग रहने वाले तथा तत्सम्बन्धी विद्वानों के अनेक सम्मेलन किए जा रहे हैं। इसी दिशा में इण्डोनेशिया के बाली द्वीप में 13वें संयुक्तराष्ट्र पर्यावरण का सम्मेलन किया गया जो 14 दिन तक चला उसमें अनेक प्रकार से विचार किया गया पर हुआ वही ढाक के तीन पात। जो स्थिति पहले थी अब भी वही है। इसमें मूल कारण है, स्वार्थियों द्वारा प्रकृति का दोहन। वर्तमान में विश्व को एक नई संस्कृति की आवश्यकता है। मनुष्य, पृथ्वी और आकाश अलग इकाईयाँ नहीं है। सृष्टि के रहस्यों के खोजने वाले विद्वानों ने सृष्टि के विषय में जो कहा, और जो विज्ञान आज कह रहा है, भारत के ऋषि यह सब कुछ पहले ही कह चुके हैं। भारत का सम्पूर्ण वैदिक तथा लौकिक साहित्य इससे भरा पड़ा है। हमारे प्राचीन अनेक सन्तों ने बहुत पहले ही इस विषय में विचार व्यक्त किए थे, उनमें गुरु जम्भेश्वर भी मुख्य हैं। गुरु जम्भेश्वर ने अपनी वाणी में सृष्टि संबंधी मान्यता में इसका विस्तार से वर्णन किया है। जैसा कि –

जदि पवंण न हुता पांणी न हुता, न हुंता घर गैणारूं।

एक स्थान पर उन्होंने कलश पूजन के प्रसंग में कहा है –

आंम अकल रूप मनसा उपराजी
तामां पाँच तत्व होय राजी।
आकाश वायु तेज जल धरणी
तामा सकल सिष्टी की करणी
ता समरथ का सुणै वखांण॥

सपत दीप नवखण्ड प्रमाण पांच तत्व मिल इंड उपायौ। विगस्यौ इंड धरणी ठहरायौ॥

तामा ब्रह्म बीज ठहरायौ।
ता ब्रह्म की उतपति होई॥

समूची सृष्टि के परस्परावलम्बन को उन्होंने अपनी त्रिकाल दृष्टि से आज से 560 वर्ष पूर्व ही देख लिया था। वर्तमान में पृथ्वी को प्राकृतिक आपदाओं से बचाने के लिए विश्व-पृथ्वीदिवस मनाया गया और विश्व में हो रहे जलवायु परिवर्तन के फलस्वरूप आने वाले आकस्मिक खतरों से बचाव के लिए व्यापक रणनीति के वैश्विक प्रयास पर्यावरण व पारिस्थितिकी असन्तुलन की चिंता को प्रमाणित करते हैं। आगे भी अनेक प्रकार के प्रयास किये जा रहे हैं। विश्व-पर्यावरण दिवस को मनाना औद्योगिकी-करण की अवधारणा इत्यादि। किन्तु भारत में तो इस अवधारणा का आविर्भाव लगभग 560 वर्ष पूर्व ही हो गया था जिसके प्रणेता विश्व के महान् पर्यावरणविद् गुरु जम्भेश्वर महाराज हुए। बिश्नोई धर्म संस्थापक, क्रांतिदर्शी, समाज-सुधारक, गुरु जम्भेश्वर जी के मूल सिद्धान्तों में प्रकृति संरक्षण एवं संवर्द्धन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उनकी वाणी व उपदेशों में न केवल भारतीय दर्शन-परम्परा और सनातन-परम्परा का पोषण होता है। अपितु तत्कालीन युग की पर्यावरण-चेतना व इसको अक्षुण रखने का भाव उन्हें अन्य मध्यकालीन संतों से पृथक् स्थान दिलाता है। जो आज भी प्रासंगिक है।

गुरु जम्भेश्वर जी ने अपने स्वकीय कार्यों, उपदेशों तथा संदेशों में सर्वत्र रूढ़ीवादी विचार-धाराओं से हटकर स्वस्थ एवं समृद्ध, सांस्कृतिक परम्पराओं और मानवीय-मूल्यों को स्थापित करके अहिंसा, प्रेम, शांति, सादगी, सात्विकता, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व, सद्भावना और विश्वबंधुत्व की भावना, पवित्र एवं शुद्ध पर्यावरण सुरक्षा के कार्यों को लोकजीवन में क्रियान्वित और आचरण में लाने को कहा है। जिसकी पूर्वपीठिका में लोकमंगल, लोककल्याण और आत्म-उत्थान की भावना सन्निहित है।

गुरु जम्भेश्वर सिद्धान्त और व्यवहार से ज्यादा महत्व मनुष्य के निजी आचरण को देते थे। वे मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना चाहते थे। उनका सिद्धान्त ईशावास्योपनिषद् की याद दिलाता है जिसमें कहा गया है– **ईशावास्य-मिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।** सभी मनुष्य एवं जीव-जन्तु तथा पेड़-पौधे प्रकृतिजन्य सभी पदार्थ एक ही ईश्वर से उत्पन्न हैं। इसी ओर संकेत करते हुए वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि –

तइया सांसू तइया मांसू तइया दे दमोई।
उतिम मधिम क्यों जांणीजै विवरसि देखो लोई॥

गुरु जम्भेश्वर जी की कार्यप्रणाली व उनके उन्नतीस धर्म-नियमों से ज्ञात होता है कि उन्होंने निषेधात्मक और पाशविक प्रवृत्तियों पर प्रहार करके पवित्र पर्यावरण-चेतना को उजागर करके वैज्ञानिक तथा सहज जीवनपद्धति का निर्माण किया है जो प्रत्येक प्राणी के लिए उपयोगी है। उन्होंने अनुभव किया कि यह तभी हो सकता है जब मानवमात्र पहले स्वयं अपने में ही पर्यावरण का वरण करे। इसीलिए उन्होंने सबसे पहले मनुष्य के आन्तरिक पर्यावरण को शुद्ध एवं सात्विक रखने के साथ ही मन की दुर्बलताओं और कमजोरियों पर विजय प्राप्त करने का मूल मंत्र सिखाया है।

उनके साहित्य को पढ़ने से स्पष्ट है कि सभी सिद्धान्त प्रकृति के नियमों पर आधारित थे, जो नियम प्रकृति के अनुकूल होते हैं वे सभी लोगों की जीवन-व्यवस्था के भी अनुकूल होते हैं। उन नियमों में व्यक्ति एवं जीव तथा पेड़-पौधों इत्यादि का सर्वांगीण विकास होता है तथा जड़-चेतन, व्यष्टि-समष्टि सभी के विकास एवं कल्याण की सुविधा रहती है।

गुरु जम्भेश्वर जी ने अपने उपदेशों तथा लोक संदेशों द्वारा पर्यावरण संरक्षण की वैज्ञानिक विधि का निर्माण किया है। जिसमें उन्होंने बताया है कि धर्म और विज्ञान का परस्पर पूरक बनकर कार्य करने से विश्व की सभी समस्याओं का समाधान संभव है। दोनों के पारस्परिक तालमेल व आपसी औचित्यपूर्ण सामंजस्य से ही शांति, समृद्धि और पर्यावरण संरक्षण की सुरक्षा को बल मिलेगा। उनका मानना था कि यह तभी संभव है जब अध्यात्म और विज्ञान मिलकर कार्य करें। अध्यात्म के बिना विज्ञान दृष्टिहीन है तथा विज्ञान के अभाव में अध्यात्म अंधा है। इसलिए विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान के साथ अध्यात्म का होना आवश्यक है। इसीलिए उनको विश्व का प्रथम महान् पर्यावरण वैज्ञानिक कहा जाता है। गुरु जम्भेश्वर जी ने वैदिक-कालीन प्राचीन ऋषियों द्वारा दैनंदिन के लिए अपनाई गई हवन इत्यादि पद्धति को पर्यावरण शुद्धि और शांति के लिए उपयोगी बतलाया है। अपनी वाणी में कहते हैं-

जा दिन तैरै होम न जाप न तप न किरिया।
गुरु न चीन्हूं पंथ न पायौ॥

हवन से पूर्व ब्रह्ममुर्हूत में स्नान करके बाद में गुरुवाणी के शब्दों द्वारा नित्यप्रति हवन करने से परिवार में परस्पर अध्यात्मिक परिवेश पवित्र बना रहता है।

गुरु जम्भेश्वर जी ने जीवन-व्यवस्था में न केवल आन्तरिक पर्यावरण की बात कही है बल्कि सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और जीवशास्त्रीय पर्यावरण की बात कही है। वे अपनी वाणी में निरीह और मूक जीवों को मारने वालों को चेतावनी देते हुए कहते हैं-

जीवां ऊपरि ओ करीजै। अतिकाल हुयसी भारी॥

अर्थात् इन मूक प्राणियों पर जबरदस्ती या उनको शारीरिक कष्ट पहुँचाने या निर्दोष रहते हुए उनका वध करने की कोशिश की गयी तो मृत्यु के उपरांत में अर्थात् अंत समय आपका अत्यन्त दु:खदायी होगा।

जीवन में उत्तमकार्य करने वाले संस्कारवान् लोग प्रकृति के प्रत्येक जीव-जन्तु और पेड़-पौधों की रक्षा करते हैं। क्योंकि प्रकृति की रक्षा लोककल्याणकारी होती है। इसलिए गुरु जम्भेश्वर ने चराचर जगत् के सभी प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए जीवरक्षा का उद्घोष किया है-

वरजत मारै जीव, तहॉं मर जाइयै।

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति मना करने के अनन्तर भी जीवों की हत्या करता है और पेड़-पौधों को काटता है तो उनको बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े तो भी दे देनी चाहिये। जीवों तथा पेड़-पौधों की रक्षा करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देना बिश्नोई धर्मपद्धति का प्रथम नैतिक कर्तव्य है। गुरु जम्भेश्वर को प्रकृति का हरा-भरा वातावरण बेहुत प्रिय लगता था इसलिए उन्होंने अपनी तपस्या-स्थली का स्थान

कंकेड़ी के पेड़ों के नीचे रखा था जिसका वर्णन उन्होंने अपनी वाणी में भी किया है–

हरी कंगहड़ी मंडप मैड़ी, तांहा हमारा वासा

प्राकृतिक स्रोतों व संसाधनों और भूमण्डलीय व्यवस्था व उनकी संरचना तथा उनके अनुकूल जैविक विविधता की चर्चा उन्होंने अपनी वाणी में जगह–जगह की है।

मौरे धरती ध्यान वणासपति वासो,
उजू मंडल छायो।

उनका कहना है कि पृथ्वी की आन्तरिक संरचना में मेरा ध्यान रहता है और वनस्पति में मेरा निवास है तथा चराचर जगत् की सम्पूर्ण सृष्टि तथा आकाशमण्डल में मैं व्याप्त हूँ। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरी छाया है। मेरा पृथ्वी पर अवतरण तथा मेरे कार्यों का उद्देश्य प्रकृति की रक्षा के लिए हुआ है।

निष्कर्षतः यह लिखा जा सकता है कि पर्यावरण केवल जीवशास्त्रीय विषय नहीं है अपितु उसका आध्यात्मिक विवेचन भी आवश्यक है। पर्यावरण तथा प्रकृति पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण की स्पष्टता के बिना पर्यावरण–संरक्षण संभव नहीं होगा। वर्तमान युग में भौतिकता के प्रभाव में आकर मानव प्रकृति से दूर होता जा रहा है और दूरी लगातार बढ़ रही है जिसका फल एकमात्र विनाश ही है।

गुरु जम्भेश्वर ने मानव तथा प्रकृति के बीच की दूरी को पाटने के लिए अपनी वाणी एवं उन्नीस धर्म–नियमों की पवित्र आचार–संहिता को बनाया है जिसका उद्देश्य मानव को प्रकृति के नियमों के अनुकूल चलाना और उसके अस्तित्व को बचाये रखना। इसलिए गुरु जम्भेश्वर जी ने मानव तथा पेड़–पौधों व जीव–जन्तुओं की रक्षा की बात मानव के अस्तित्व को बचाने के लिए ही कही है। मानव का अस्तित्व प्रकृति–संरक्षण पर ही निर्भर है इसलिए प्रकृति–संरक्षण के द्वारा ही मानव के अस्तित्व को बचाया जा सकता है। यह तभी संभव होगा जब सम्पूर्ण विश्व भारत के ऋषि–मुनियों या अन्य सन्तों तथा संन्यासियों द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलते हुए सम्पूर्ण प्रकृति को अपने ही अंगों से जोड़ते हुए चलेंगे और अपनी पीड़ा प्रकृति की पीड़ा समझेंगे। अन्यथा इसका क्या परिणाम होगा यह तो सभी ने जून, 2013 में उत्तराखण्ड में घटित केदारनाथ, बदरीनाथ इत्यादि में या उस से पूर्व उत्तरकाशी जैसे स्थानों की तबाही अपनी आँखों से देख ही ली है। अब भी मनुष्य को प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करनी छोड़ देनी चाहिए। केवल अपने सुख के लिए प्रकृति का दोहन उचित नहीं। इसलिए गुरु जम्भेश्वर जी जैसे ऋषियों द्वारा बताई हुई पर्यावरणीय शिक्षाओं पर चलना होगा।

– अध्यक्ष, गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान,
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)।

छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक का तथ्य

– डॉ. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा

छत्रपति शिवाजी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार लिखते हैं कि इनके पूर्वज राजस्थान से आए थे। वे आरंभ में महाराष्ट्र के एलोरा प्रदेश के आसपास बसे थे। उस प्रदेश में भौंसले नाम का एक गाँव है, प्रथम वे वहीं पर बसे। वे लोग मुख्यतः खेती करते थे। इनके वंश के लोगों में एक शाह जी हुए। उनके घर शिवाजी का जन्म 19 फरवरी, 1630 ईस्वी को हुआ। इनकी माता का नाम जीजाबाई था। जीजाबाई ने शिवा जी की शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया। वे शिवा जी को रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं और उनके हृदय में स्वराज्य की भावना भरती रहती थीं। इसी का परिणाम रहा कि शिवा जी जीवन-भर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहे।

आज जिस वीर शिवाजी को देश बड़े गौरव तथा सम्मान से याद करता है तथा इतिहास भी गौरव से जिनके पराक्रम की गाथा लिख कर उन्हें सम्मान से देखता है। उस वीर शिवाजी को अपने जीवन में किस प्रकार मुसीबतों का सामना करना पड़ा यह पढ़कर दिल दहल जाता है। उन्होंने अपने बाहुबल से मुसलमान शासकों के छक्के छुड़ाकर एक बड़े भूभाग पर अपना अधिकार किया।

जैसे-जैसे मराठों का स्वराज्य बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही शिवाजी को उसकी विधिवत् स्थापना की आवश्यकता अनुभव होने लगी। उन दिनों मराठा सरदारों को बादशाह की ओर से राजा की उपाधि तो अवश्य मिलती थी, पर वह केवल नाममात्र की ही होती थी। औरंगजेब ने शिवा जी को भी राजा की उपाधि प्रदान की थी, पर उनका अधिकार केवल एक सामान्य जमींदार से अधिक नहीं था। उन्हें अपना राज्याभिषेक करवाने का अधिकार नहीं था। पर, शिवाजी ने अपने बाहुबल से महाराष्ट्र एवं कर्नाटक का बहुत बड़ा साम्राज्य अपने अधीन कर लिया। वे उस समय बड़ी राज्यसत्ताओं के बराबर हो गए थे। साथ ही उनके पराक्रम तथा उनकी ख्याति देखकर अन्य जागीरदार उनसे शत्रुता करते थे और केवलमात्र उनको एक विद्रोही ही मानते रहे। वे शिवाजी की महत्ता को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करते थे। यहाँ तक कि शिवाजी के प्रति प्रजा में भी विश्वास और सम्मान की भावना पहले-पहले बहुत कम थी।

यादव नरेशों के विनाश के पश्चात् लगभग 350 वर्षों तक मुस्लिम शासकों ने महाराष्ट्र की बहुत ही दुर्दशा की थी। इस कारण मराठों के सम्बन्ध में यह गलत धारणा बन गई थी कि ये जन्म से ही दासभाव से ग्रस्त हैं। इस प्रकार की स्थिति से शिवाजी के राजकार्य में बहुत बाधाएँ आती थीं। उन्होंने अपनी अलग राजमुद्रा तो पहले ही बना ली थी और वे अपने आप को छत्रपति भी कहलवाते थे, पर ऐसी स्थिति में भी लोग उन्हें साधारण जमींदार से ऊपर नहीं मानते थे। अतः शिवाजी यह सिद्ध करना चाहते थे कि अब महाराष्ट्र पर मुगलों की सत्ता नहीं है। अब महाराष्ट्र की सत्ता वहीं के निवासी एक हिन्दू के हाथ में आ चुकी है। पर्याप्त समय बीतने पर भी वे

ऐसा नहीं कर पाये। अब अन्त में उनके पास एक ही उपाय था कि राज्याभिषेक के द्वारा एक नये राजवंश की स्थापना की जाए।

राज्याभिषेक करवाना भी उस समय कोई सरल कार्य नहीं था। उस कार्य में भी सबसे बड़ी रुकावट जात-पात की भावना ही थी। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार क्षत्रिय ही अपना अभिषेक करके राजा बन सकता था। शिवाजी के भौंसले वर्ग के लोग न क्षत्रिय माने जाते थे और न ही ब्राह्मण। उनको किसान अथवा निम्न वर्ग का समझा जाता था। निम्न वर्ग के किसी भी व्यक्ति को राज्याभिषेक का अधिकार नहीं था। अत: ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने उन्हें राज्याभिषेक के अयोग्य घोषित कर दिया था, जिसके कारण महाराष्ट्र में शिवाजी के राज्याभिषेक के लिए कोई भी विद्वान् ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। पर, सौभाग्य से एक प्रकाण्ड पण्डित महाराष्ट्र में ही मिल गया। उस का वास्तविक नाम विश्वेश्वर भट्ट था, पर जनता में वह गागाभट्ट के नाम से प्रसिद्ध था। उसके पूर्वज गोविन्दभट्ट सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में काशी जाकर बस गए थे। इस वंश के लोगों ने अपनी विद्वत्ता की धाक सारे भारत में बना ली थी। पण्डित गागाभट्ट ने भी अपने पूर्वजों की कीर्ति में बहुत वृद्धि की। उन्होंने कई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना भी की थी। शिवाजी ने अपने प्रतिनिधि द्वारा अपना राज्याभिषेक करवाने के लिए उनसे प्रार्थना की। वे शिवाजी के राज्याभिषेक को करवाने के लिए तैय्यार हो गये। जब वे वीर शिवाजी का राज्याभिषेक कराने के लिए आए तो स्थानीय पण्डितों ने उनका विरोध किया तथा उनसे शास्त्रार्थ करने लगे।

पंडित गागाभट्ट ने अपनी विद्वत्ता के बल पर विरोधी ब्राह्मणों के मतों का खण्डन भी किया और यह प्रमाणित भी कर दिया कि शिवाजी अपने कार्यों से पूर्णतया किसी क्षत्रिय से कम नहीं है और अपना राज्याभिषेक करवाने के पूर्ण अधिकारी हैं। पण्डित गागाभट्ट द्वारा स्वीकृति मिलने पर अब नए राज्य के लिए राजधानी की आवश्यकता थी, जहाँ पर शिवाजी का अभिषेक किया जाए। विचार-विमर्श के उपरान्त शिवाजी की जो राजधानी पहले थी उसी रायगढ़ के किले को नयी राजधानी के लिए चुना गया। कुलावा जिले में महाड़ शहर के 15 मील की दूरी पर यह किला है। यह किला पर्वतों पर स्थित होने के कारण अधिक दुर्गम है। गढ़ के ऊपर काफी लम्बा-चौड़ा मैदान है। वहाँ पर राजधानी के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ तालाब, आनाज, गोला-बारूद आदि एकत्रित कर लिए गए थे। वहाँ पर इमारतें, महल, दरबार का सभागृह, जगदीश्वर का मंदिर, बाजार, अश्वशालाएँ, गौशालाएँ आदि भी बनवा दिए गए।

रायगढ़ में एक महीने तक बहुत ही चहल-पहल रही। अभिषेक के लिए शुक्लपक्ष की त्रयोदशी तिथि, 6 जून, 1674 ई. को प्रात:काल का मुहूर्त निश्चित किया गया। सभी धार्मिक एवं राजनैतिक हस्तियों को निमन्त्रण भेजे गये। 32 मन सोने से निर्मित सिंहासन बनाया गया। भारत के समस्त समुद्रों, गंगा आदि नदियों तथा तीर्थ-स्थलों से जल एकत्रित किया गया। पंडितों, कलाकारों, गायक-वादकों आदि को भी बुलाया गया। कुलपरम्परा या तत्कालीन परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम शिवाजी भौंसले कुल की देवी माता भवानी के आशीर्वाद के लिए अपने समबल सहित प्रतापगढ़ गए। वहाँ पर शिवाजी ने पूजा की और सवा मन सोने का छत्र देवी को चढ़ाया। वहाँ कुछ दिन रह कर वे वापिस रायगढ़ आ गये।

छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक का तथ्य

21 मई, 1674 ईस्वी से राज्याभिषेक की धार्मिक कार्यवाही आरंभ हुई। प्रथम शिवाजी का उपनयन संस्कार कराया गया जो कि अब तक नहीं हुआ था। फिर उनका विवाह रानियों के साथ वैदिक पद्धति से करवाया गया जो कि पहले पौराणिक पद्धति से हुआ था। जो उस समय रानी सायेरावाई थी, बड़ी होने के कारण उसे पटरानी बनाया गया। इसके पश्चात् तुलादान की विधि आरंभ हुई। पहले शिवाजी का स्वर्ण से तुलादान किया गया जिसमें पूरे दो मन स्वर्ण के सिक्के लगे। उस समय शिवाजी का वजन दो मन अर्थात् 160 पौंड था। उसके बाद चांदी, तांबे, कपूर, शक्कर, मक्खन, फल आदि से तुलादान किया गया। ये सब पदार्थ ब्राह्मणों तथा निर्धनों में बाँट दिए गए।

प्रातः पाँच बजे मुहूर्त्त का अवसर आने पर, मंगल वाद्यों की मधुर ध्वनियों एवं ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले वेदमन्त्रों के उद्घोष से रायगढ़ का वायुमण्डल गूँज उठा। सहस्रों दीपों से रायगढ़ जगमगा उठा। सोने के रत्नजटित सिंहासन पर राजा-रानी को बिठाना, दोनों पर मोतियों से जड़ित छत्र रखना, आठों दिशाओं से लाए गए पवित्र जल को स्वर्णपात्रों में डाल कर और फिर उस जल से ब्राह्मणों द्वारा अभिषेक करना, यही इस राज्याभिषेक की प्रधान धार्मिक विधि थी। उसके अनुसार फिर राजा के आठों मंत्री आठ दिशाओं में खड़े हो गए तथा वेदों के घोष के साथ उन्होंने अपने महाराज का अभिषेक किया। उस समय उपस्थित लोगों ने घोष किया– 'क्षत्रिय-कुलावतंस श्री राजा शिव छत्रपति महाराज की जय हो।' इस दृश्य को देखकर शिवाजी की माता जीजाबाई के नेत्रों में अश्रु आ गए और उन्होंने अपने आप को कृतार्थ माना। इस उत्सव पर स्वराज्य में सभी स्थानों पर तोपें दागी गईं। ब्राह्मणों को दक्षिणाएँ दी गईं। पंडित गागाभट्ट को नकद एक लाख रुपये तथा बहुमूल्य वस्त्र दिए गए।

धार्मिक कार्यविधि के पश्चात् प्रातः सात बजे के लगभग शिवा जी दरबार महल में राजसिंहासन पर विराजमान हो गए। उस समय राजपुरोहित गागाभट्ट ने उनके शिर पर छत्र रखा और फिर सभी पंडितों ने आगे आकर उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् विभिन्न मराठा अधिकारियों ने मूल्यवान् उपहार शिवा जी को भेंट किए।

दरबार की समाप्ति के बाद शिवा जी महाराज हाथी पर सवार होकर शोभायात्रा के साथ देवदर्शन को गए। राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में शिवाजी ने नया संवत् भी चलाया था 'राज्याभिषेक शक'। यह शक संवत् 104 वर्ष तक ही चल सका। शिवा जी ने अपने नाम का तांबे का पैसा और सोने का होन नामक सिक्का भी चलाया था। इन सिक्कों पर एक ओर 'श्री राजा शिव' और दूसरी ओर 'छत्रपति' शब्द खुदे हुए थे। राज्याभिषेक के पश्चात् शिवाजी ने अपने पत्रों पर अपने नाम के साथ 'क्षत्रियकुलावतंस श्री राजा शिव छत्रपति' की उपाधि भी लगानी आरंभ कर दी थी।

– साधु आश्रम, होशियारपुर।

– सन्दर्भ ग्रन्थ –

छत्रपति शिवाजी–श्रीपाद जोशी, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर। (1991)।

वि. संवत् 2072, शक संवत् 1937, ई. सन् 2016 में

होलिकादहन–दिन–कालनिर्णय

– श्री प्रियव्रत शर्मा

फाल्गुन–पूर्णिमा में प्रदोष के समय होलिका–दहन का विधान है। भद्रा में होलिका–दहन निषिद्ध है। यदि पूर्णिमा दो दिन प्रदोष को व्याप्त कर रही हो तो दूसरे दिन ही प्रदोषकाल में होलिका–दाह किया जाता है, क्योंकि पहले दिन तो वहाँ प्रदोष भद्रा–दूषित रहता है। यदि केवल पहले ही दिन पूर्णिमा प्रदोष–व्यापिनी हो, दूसरे दिन वह प्रदोष से पूर्व ही समाप्त हो जाए, तब पहले ही दिन भद्रामुख को छोड़कर अथवा भद्रा के पुच्छ में, निशीथ से पूर्व ही भद्रा समाप्त हो जाए तो भद्रा की समाप्ति पर ....इत्यादि विभिन्न स्थितियों में **विभिन्न होला–दहनकाल** शास्त्रकारों ने निर्णीत किए हैं। यदि केवल पहले ही दिन पूर्णिमा प्रदोषव्यापिनी हो और वह दूसरे दिन **सार्ध–त्रियाम–व्यापिनी** (साढ़े तीन प्रहर या इससे अधिक काल तक व्यापिनी) हो, किञ्च–परवर्ती प्रतिपदा वृद्धि–गामिनी (फाल्गुन–पूर्णिमा के भोग से अधिक भोगवाली) हो, वहां **भविष्योत्तर–पुराण** का निर्णय है– ''दूसरे दिन पूर्णिमा के उस अन्तिम भाग में, जहाँ वह सायाह्न (दिन के पञ्चम पंचमांश) को व्याप्त कर रही हो, होलिकादहन करना चाहिए।'' **ध्यान रहे**– इस प्रकार की स्थिति शताब्दी में मुश्किल से एकाध–बार ही घटित होती है। यही स्थिति सं. 2072 वि., सन् 2016 ई. में बन रही है। इस स्थिति के विषय में **महर्षि वेदव्यास** का **भविष्योत्तर–पुराण** में यह वाक्य है–

सार्धयाम–त्रयं वा स्यात् द्वितीये दिवसे यदा।
प्रतिपद् वर्धमाना तु तदा सा होलिका स्मृता॥

इसका अभिप्राय है–यदि फाल्गुन पूर्णिमा साढ़े तीन याम या इससे अधिक काल को व्याप्त करे और तदुत्तरवर्ती प्रतिपदा वृद्धिगामिनी हो तो वहाँ होलिकादहन सायाह्न–व्यापिनी पूर्णिमा के काल में करना चाहिए।

महर्षि वेदव्यास के इस **भविष्योत्तरवाक्य** को निरपवाद रूप से **निर्णयसिन्धु, समय–प्रकाश, तिथिनिर्णय, धर्मसिन्धु एवं पुरुषार्थ–चिन्तामणि** आदि सभी निबन्धग्रन्थों ने उद्धृत कर इसे प्रामाणिकता दी है।

यहाँ यह बात बतलाने योग्य है कि **महर्षि वेदव्यास** के इस वाक्य का अभिप्राय **निर्णय–सिन्धुकार** आदि कुछ निबन्धकारों ने यह माना है कि **सार्धत्रियामा** या **सार्धत्रियामाधिका** पूर्णिमा होने पर परवर्ती वृद्धिगामिनी प्रदोषव्यापिनी प्रतिपदा में होलिकादहन करना चाहिए। लेकिन

पुरुषार्थचिन्तामणि आदि निबन्धकारों ने इसे अमान्य बतलाया है, क्योंकि प्रतिपदा में **होलिका-दाह** को शास्त्रकारों ने एकस्वरेण कुफलकारक कहा है। अत: **भविष्योत्तर पुराण** के इस वाक्य का यथार्थ अभिप्राय यह माना गया है कि–सार्धत्रियामा पूर्णिमा से व्याप्त सायाह्नकाल में ही होलिकादाह होना चाहिए।

ध्यान रहे– कोई भी तिथि यदि **सार्धत्रियाम-व्यापिनी** है, तो वह अनिवार्यत: **सायाह्नव्यापिनी** अवश्य होती है। **सायाह्न** को **गौण-प्रदोष** माना गया है, **जिससे सार्ध-त्रियामा-पूर्णिमा सायाह्नव्यापिनी** होने से **प्रदोषव्यापिनी** ही मानी जाती है। अत: वहाँ होलिकादाह शास्त्र-सम्मत है। यही बात **पुरुषार्थचिन्तामणिकार** ने इस प्रकार स्पष्ट लिखी है–

यदा तु द्वितीय-दिने सार्धयामत्रयं पूर्णिमा, प्रतिपदश्च वृद्धि: तदा पूर्णिमान्त्य-भागे सायाह्नकाल एव दीपनीया होलिका।[1]

यहाँ कुछ प्रतिपक्षियों की यह आपत्ति है कि– 'सायाह्न में होलिकादाह नहीं होना चाहिए।' क्योंकि सायाह्न दिन का ही भाग है, दिन में होलिकादाह अशुभ माना गया है–

प्रतिपद्-भूत-भद्रासु यार्चिता होलिका दिवा।
संवत्सरं च तद्राष्ट्रं पुरं दहति सा द्रुतम्॥
(नारद:)

लेकिन ऐसी बात नहीं है, दिन में 'होलिकादाह-निषेधक' एवं सायाह्न में 'होलिकादाह-समर्थक'– दोनों प्रकार के वाक्य शास्त्रों में उपलब्ध हैं। इनमें विरोध की प्रतीतिमात्र है; वस्तुत: ये परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि **......यार्चिता होलिका दिवा** में **'दिवा'** शब्द सायाह्न-वर्जित दिनभाग का वाचक है।[2]

इसी प्रसंग में 'पुरुषार्थचिन्तामणि' में भी यही लिखा है– **''(अत्र) दिवा-शब्दस्य सायाह्न-भागातिरिक्त-दिवसकल्पनस्या-वश्यकत्वेन तद्विरोधाभावात्।''**

यहाँ कुछ प्रतिपक्षी यह भी आपत्ति करते हैं कि– **भविष्योत्तरोक्त सार्धयामत्रयं वा**

---

1. यहाँ ध्यातव्य है कि–वेदव्यास ने यामत्रय-व्यापिनी पूर्णिमा को होलादाह के योग्य नहीं माना, क्योंकि यामत्रयव्यापिनी कोई भी तिथि सायाह्न (गौण-प्रदोष) का कदापि स्पर्श नहीं करती। सार्धत्रियामा तिथि तो सर्वदा सायाह्न-व्यापिनी होती ही है। इसीलिए उन्होंने होलिकादाह के लिए साधत्रियामा पूर्णिमा को ही ग्राह्य लिखा है।
2. इस प्रकार प्रतीयमान विरोध की व्यवस्था मीमांसा में देखिए– **मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि –** यह वैदिक-वाक्य प्राणिमात्र को अवध्य बतलाता है। लेकिन **अग्निषोमीयं पशुमालभेत–** यह दूसरा वैदिक वाक्य यज्ञीय पशु को वध्य कह रहा है। इन दोनों वैदिक वाक्यों का परिहार **मीमांसकों** ने इस प्रकार किया है**– मा हिंस्यात्.....** में जो सभी प्राणियों की हिंसा का निषेध है, वहां **प्राणी** शब्द से **यज्ञ में बलि-योग्य छागल** आदि से अन्य प्राणियों का ही ग्रहण होता है।

स्यात्.........स्थिति में भी भद्रामुख को छोड़कर पहले दिन ही प्रदोष में होलिकादहन करना चाहिए, क्योंकि होलिका–दहन के प्रधान कर्मकाल **प्रदोष** को छोड़कर **गौणकर्म–काल सायाह्न** में इसे करना अयुक्त है।

उनकी यह आपत्ति भी तर्कसंगत नहीं है– ऐसा करने से तो **महर्षि वेदव्यास** का **सार्धयामत्रयं वा स्यात्........** यह वाक्य सर्वथा अर्थहीन हो जाता है। अर्थात् प्रतिपक्षियों का उपरोक्त मत मानने पर यह पुराणवाक्य सर्वतोभावेन अप्रयोज्यता की स्थिति में आ जाता है। दूसरे शब्दों में तब इसका प्रयोग (Application) कहीं भी, किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं रहता। प्रामाणिक निर्णायक वाक्यों में से किसी भी वाक्य की अप्रयोज्यता (प्रयोजन–हीनता) की स्थिति को तर्कविदों ने उस वाक्य की **निरवकाश–स्थिति** माना है। मीमांसाशास्त्री किसी भी निर्णायक वाक्य की ऐसी स्थिति को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। प्रत्येक वाक्य का समन्वय होना मीमांसा का सिद्धान्त है।

इन प्रतिपक्षियों से हमारा यह प्रश्न है, वे उत्तर दें –

महर्षि वेदव्यास के सार्धयामत्रयं वा स्यात्.......... इस वाक्य का प्रयोग आप लोग इस वर्ष (सं. 2072 वि. में) नहीं करेंगे, तो इसका प्रयोग आप फिर कहाँ करेंगे? **स्पष्ट है –** अपने मतानुसार तो इस वाक्य का प्रयोग आप कहीं भी नहीं कर पाएँगे। ऐसा वाक्य जो आपके मतानुसार अर्थहीन, निष्प्रयोजन एवं कहीं भी काम न आने वाला हो, उसके प्रणेता **महर्षि वेदव्यास** को क्या आप प्रतिपक्षी लोग स्पष्टतः मन्दात्–मन्दतर सिद्ध नहीं कर रहे हैं? – **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते** – यह आभाणक तो आपने सुना ही होगा।

उल्लिखित विस्तृत विवेचन का सारांश यह है कि– महर्षि वेदव्यास का यह वाक्य मीमांसाशास्त्रीय तर्क–वितर्कों से पूर्णतः परिमार्जित है, इसे सभी विद्वान् धर्मशास्त्रियों ने पूर्ण मान्यता प्रदान की है। अतः इस वर्ष (सं. 2072 वि. में) इस वाक्यानुसार 'होलिका–दहन' फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा, बुधवार, तदनुसार 23 मार्च, सन् 2016 ई. में पूर्णिमा के अन्तिम लगभग 30 मिनटों में [$17^{h.}$–$0^{m.}$ से $17^{h.}$–$30^{m.}$ (I.S.T.) तक के काल में] ही करना होगा, क्योंकि इस समय भारत में सर्वत्र सायाह्नकाल होगा।

– 59/6, अभिजित, पंजकूला (हरियाणा)।

मानवीय-धर्म तथा तुलसीकाव्य

— डॉ. नीरू मेहता

धर्म क्या है? उसकी परिभाषा कर उसको किन्हीं शब्दों में बांधना उतना ही कठिन है जितना धार्मिक बनकर संसार में रहते हुए, सर्वविध कार्यक्षेत्र में कार्य करते हुए भी धर्म का पालन करना। धर्म को न किसी वाक्यों द्वारा परिभाषित किया जा सकता है और न जीवित व्यक्ति धर्म के बिना जीवित ही रह सकता है। यदि व्यक्ति को जीवित रहना है तो धर्म की रक्षा करनी पड़ेगी। क्योंकि धर्म की समाप्ति पर तो व्यक्ति या समाज स्वयं नष्ट हो जाता है और रक्षित धर्म व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की रचना करता है। अत: धर्म के विषय में यही कहा जा सकता है कि धर्म एक सनातन एवं सार्वभौम तत्त्व है, उसका मूल लोकोत्तर है। धर्म मानव के कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाकलापों को विश्वहित अथवा मानवता के महान् आदर्शों के साथ सम्बद्ध कर के व्यक्ति और शाश्वत के बीच नित्य सम्पर्क की स्थापना करना ही अपना लक्ष्य मानता रहा है। इस दिशा में तुलसीकाव्य शौर्य, धैर्य, सत्यशील, बल, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, विरति, सन्तोष, दान, बुद्धि, विज्ञान, शम, यम, नियम आदि उन शाश्वत आदर्शों का दिग्दर्शन कराता है जिन्हें देखकर मानव हृदय पुलकित हो जाता है और नैतिक ह्रास के घोर अन्धकार के फलस्वरूप अवनतिगर्त की ओर अग्रसर होती हुई मानवता जिनके आलोक से आलोकित हो कर समुचित पथ को ग्रहण कर अभ्युदय के उस सोपान पर चढ़ना प्रारम्भ कर देती है जो उसे उत्थान के उच्चतम शिखर [नि:श्रेयस] पर आरूढ़ कर देता है।

उपनिषदों ने 'सत्यमेव जयते नानृतम्'[1] की घोषणा से सत्य का अवलम्बन तथा असत्य का परित्याग 'धर्म' बताया है तो वाल्मीकि ने सत्य को परमधर्म मानते हुए उसी को परमब्रह्म माना है।[2] तुलसी की भी सत्य के प्रति इसी प्रकार की मान्यता थी। दशरथ के प्राण-त्याग का कारण उन का सत्य पर अविचलित हो कर टिके रहना ही है।[3] समस्त प्राणियों के साथ मन, वाणी तथा कर्म से विद्रोह की भावना न रखना तथा उन पर अनुग्रह करना एवं दानशीलता का भाव प्रदर्शित करना ही 'शील' कहा जाता है। 'मानस' में गुरु वशिष्ठ के आगमन पर उन के स्वागत में राम की शीलनिधानता का रूप उभर कर सामने आता है[4] तो 'विनयपत्रिका' में राम के शीलवान् रूप समक्ष

1. मुण्डकोपनिषद्, 3-1-6. 2. वाल्मीकीय रा., 2,14,3,7. 3. मानस, अयो. का. 28, 4-6.
4. मानस, अयोध्या का., 9, 2.

योग के अष्टांगों को भी तुच्छ कहा गया है।[5] शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों के बल से ही ऐहिक तथा पारलौकिक कर्म किये जाने सम्भव होते हैं। राम के व्यक्तित्व में इन तीनों का गुम्फन है। सीता स्वयंवर में जनक ने राजाओं में इन तीनों प्रकार के बल के आभाव को जानकर ही पश्चात्ताप किया था।[6] लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के धर्मों में विवेक का विशेष महत्त्व है। रावण में उचितानुचित के विचार के अभाव से इसी विवेक गुण का नहीं होना प्रतीत होता है तो दूसरी ओर सीता ने अयोध्याकाण्ड में सुमन्त्र द्वारा राजा के सन्देश को सुन कर उत्तर देते समय राम को 'परम विवेकी' विशेषण से सम्बोधित किया।[7] किसी दूसरे की वस्तु की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता तथा धीरता को बनाए रखना, निर्भयतापूर्वक मानस रोगों से बचे रहना ही दम कहलाता है। महाभारत के शान्तिपर्व[8] में दम के सदृश अन्य धर्म और कोई नहीं माना गया है।

राम द्वारा समस्त राजपाट को एक पथिक के सदृश छोड़कर निर्लिप्त हो कर वन की ओर प्रस्थान करना उन के चरित्र में इसी गुण की पराकाष्ठा का परिचय देता है।[9] परिहत की भावना मन, वाणी तथा कर्म तीनों द्वारा ही व्यक्त होती है। तुलसी ने भी पर-उपकार को परमधर्म की संज्ञा दी है।[10] सर्वथा शक्ति-सामर्थ्य होते हुए भी अपराधी को क्षमा कर के उस का सुधार करना महिमामयी गुण माना जाता है। रावण में इस गुण का पूर्णतया अभाव है जबकि श्रीराम का व्यक्तित्व इस से सराबोर है तभी तो परशुराम भी श्रीराम की शक्ति का आभास हो ज़ाने पर उन से क्षमायाचना करता है।[11] अहेतु की कृपा तो परमधर्म का ही प्रतीक है। सुतीक्ष्ण के आश्रम के पास ऋषियों के अस्थिसमूह को देखकर श्रीराम का करुणार्द्र हो जाना श्रीराम के कृपाभाव का ही परिचायक है।[12] समता का भाव सहजावस्था को प्राप्त करवा देता है जो परमधर्म का लक्ष्य होता है। राज्याभिषेक की प्रसन्नता तथा बनवास के समाचार की विपन्नता जैसी दोनों विपरीत अवस्थाओं में समवस्था को धारण किये रखना श्रीराम की ममता का ही परिचय देता है। वनगमन समय मार्ग में मित्रभाव से प्राप्त गुहराज को सीता और लक्ष्मण के समान ही आदर देना श्रीराम के व्यक्तित्व के उदात्त पक्ष को प्रकट करता है।[13]

लौकिक कामनाओं के मोहवश जीव का दु:खी होना, सन्तोष हो जाने से कामनाओं का भी अभाव हो जाना धर्म का ही गुण है। तुलसी जी ने भी '**बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत**

---

5. विनयपत्रिका, 45.
6. मानस, बा. का. 252, 2-3.
7. मानस, अयोध्या का. 97, 5.
8. महाभारत, शान्तिपर्व, 160.
9. कवितावली, अयो. 1.
10. मानस, उत्तर का. 41, 1 ; बा. का. 84, 1.2.
11. मानस, बा. का. 285, 6.
12. मानस, अरण्यकाण्ड, 9, 8.
13. मानस, अयोध्याकाण्ड, 104.

सुख सपनेहुं नाहीं॥'[14] तथा '**जिमि लोभहि सोषइ सन्तोषा**'[15] कह कर इस गुण की उपादेयता बताई है। संशय, आलस्य तथा राग-द्वेष ही मन की अशान्ति का कारण होते हैं। इन से निवृत्ति पाने के लिए पतंजलि ने यम और नियम को धार्मिक नीति के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व प्रदान किया है। गो. तुलसी ने भी चित्त को धर्म-कार्य में स्थिर रखने वाले कर्मों के साधन यम तथा शौच-सन्तोष आदि क्रियाओं का पालन करके उन्हें ईश्वरार्पण करने वाले साधन नियम को धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग माना है।[16] धर्म-कर्म के अनुष्ठान में कामादि विकारों से मन में विकृति आ जाना स्वाभाविक होता है, किन्तु उस विकार की भावना को दबा कर धर्मशील मनुष्य सदैव धर्म-परायण रहता है। मानव में इस गुण के दर्शन अनेक स्थानों पर होते हैं। दशरथ की विकलावस्था के समय कौशल्या का धैर्यपूर्वक राम को समझाना[17], स्वयं राम का नारद के प्रति सन्तों के लक्षणों का बखान करते हुए धैर्य नामक धार्मिक गुण का प्रतिपादन करना[18], धर्मशील राम में शौर्य तथा धैर्य दानों गुणों की पूर्णता के दर्शन कराता है। पुराणें में विषयों के राग को मन की मलिनता तथा उनके प्रति विरति को निर्मलता की संज्ञा दी गई है। 'धर्ममय' राम के चरित्र में मन की निर्मलता तथा उस की शान्तावस्था अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। 'मानस' के बालकाण्ड में तुलसी '**काई विषय मुकुर मन लागी**' तथा '**विनयपत्रिका**' में भी '**रामचरन-अनुराग-नीर बिनु मल अतिनास न पावै**'[19] कह कर इस मल से छूटने का उपाय बताते हैं।

इस प्रकार तुलसी द्वारा मानवीय धर्म का उल्लेख उनके काव्य में यत्र-तत्र देखा जा सकता है। वे धर्म को केवल पुस्तकीय ज्ञान या पारिभाषिक शब्द नहीं मानते थे अपितु जीवन में तदनुरूप बनना ही उनके धर्म की एक परिभाषा थी, वही उसका लक्षण था कि समाज धार्मिक बने, न केवल समाज अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र इस प्रकार की भावना से भावित होकर धर्ममय बन जाए।

– सहायक प्रो., हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. कॉलेज, होशियारपुर।

14. मानस, कि. का. 90, 1.
15. मानस, 16, 3.
16. मानस, बा. का., 37, 14.
17. मानस, अयो. का., 54. 5.
18. मानस, अर. का. 45.
19. विनयपत्रिका, 82.

मन की शक्ति द्वारा एकाग्रता की प्राप्ति

– श्री सीताराम गुप्ता

अध्ययन और कार्य में मन लगे इसके लिए आवश्यक है कि आप एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयास करें और इसके लिए प्रतिदिन अध्ययन, लेखन अथवा अन्य कोई भी रचनात्मक कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित बातों पर ध्यान दें –

अपनी पढ़ने या लिखने की मेज़ के सामने दीवार पर या कमरे में अन्यत्र कहीं भी सुविधानुसार देवी सरस्वती का चित्र लगाएँ। चित्र यदि नहीं है तो भी कोई बात नहीं क्योंकि चित्र आपके मन में है जहाँ आप जब चाहें देख सकते हैं।

सबसे पहले आराम से ज़मीन पर या कुर्सी पर बैठकर धीरे-धीरे आँखें बंद कर लें। कमर और गर्दन सीधी कर लें। शरीर को तनावमुक्त करने के लिए गहरी साँसें लें और छोड़ दें। खूब गहरी साँस अंदर खींचें तथा यथासंभव रोककर पूरी तरह बाहर निकाल दें। बाहर भी साँस को यथासंभव रोकें। फिर पुनः गहरी साँस अंदर खींचें। पाँच-सात गहरी साँसें लेने के बाद श्वासप्रक्रिया को सामान्यरूप में आने दें। इस प्रकार शरीर को शांत कर मन से जोड़ लें।

उसके बाद मन में गणपति का स्मरण कर मन ही मन मंत्र **''ॐ गणं गणपतये नमः''** का उच्चारण करें। संभव हो तो निम्न श्लोक भी दोहराएँ-:

विद्यादाता गणाधीश सूर्यकोटि-सम प्रभ!
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा॥

प्रारंभ में यदि मंत्र अथवा श्लोक याद नहीं है तो कोई बात नहीं। मन में ध्यान कर नमस्कार करें। तदुपरांत सरस्वती जी के चित्र को श्रद्धापूर्वक देखते हुए उनके चरणों में प्रणाम करें तथा पुनः आँखें बंद करके मन में सरस्वती जी का ध्यान करते हुए मन ही मन निम्न मंत्र का उच्चारण करें-:

ओं ऐं सरस्वत्यै नमः

इस मंत्र के बाद निम्न श्लोक दोहराएँ-:

सरस्वति! नमस्तुभ्यं वरदे कामरूपिणि!
विद्यारंभं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा॥

यदि आपके अन्य महत्वपूर्ण इष्टदेव हैं तो मन में उनका भी स्मरण अवश्य करें। उपरोक्त प्रार्थना के उपरांत हिंदी अथवा अंग्रेज़ी में निम्नलिखित स्वीकारोक्तियाँ मन ही मन कई बार दोहराएँ-:

1. मैं प्रतिदिन हर तरह से बेहतर हो रहा हूँ।
2. मैं प्रतिदिन हर तरह से अधिकाधिक मज़बूत, शक्तिशाली तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण हो रहा हूँ और यह सब सहज-स्वाभाविक रूप से हो रहा है।
3. मैं एक विजेता हूँ और मैं यह जानता हूँ। मैं अपने अध्ययन/लेखन के लिए जो कुछ भी कर रहा हूँ उसमें सफलता प्राप्त कर रहा हूँ। सफलता पर मेरा अधिकार है।

इसके उपरांत अपना अध्ययन या लेखन-कार्य प्रारंभ करें। शुरू में थोड़ा समय लगेगा लेकिन निरंतर अभ्यास करते-करते उपरोक्त क्रिया में समय भी कम लगेगा तथा प्रयास भी अल्प करना पड़ेगा उसके बाद उपरोक्त प्रार्थना अथवा स्वीकारोक्तियों की मात्र मानसिक अनुभूति भी आपको अपेक्षित ध्यान लगाने में

श्री सीताराम गुप्ता

सहायक होगी। प्रारंभ में आँखें बंद करके मंत्र या श्लोक बोलने में तथा स्वीकारोक्तियाँ दोहराने में कुछ कठिनाई हो सकती है अत: शुरू में मंत्र, श्लोक तथा स्वीकारोक्तियाँ कागज़ पर साफ़-साफ़ लिखकर रख लें और देखकर पढ़ें। दिन में एक-आध बार वैसे ही दोहरा लें। धीरे-धीरे ये सारी विधि आपको कंठस्थ हो जायेगी।

जैसे-जैसे ये आपको कंठस्थ होती जाएगी आपकी एकाग्रता तथा अध्ययन, लेखन व अन्यान्य रचनात्मक कार्य करने की शक्ति व क्षमता बढ़ती चली जाएगी और जैसे ही आपकी एकाग्रता का विकास होगा उपरोक्त विधि उसी अनुपात में आपको शीघ्र ही कंठस्थ हो जाएगी।

वैसे अध्ययन, लेखन, संगीत तथा अन्यान्य रचनात्मक क्रियाएँ ध्यान का ही एक रूप हैं तथा जब हम पूर्ण मनोयोग से इन क्रियाओं में संलग्न होते हैं तो ध्यान (मेडिटेशन) के लाभ भी हमें स्वत: ही प्राप्त होने लग जाते हैं। ध्यान से कार्य करने में सफलता तथा सफलता से कार्य सम्पन्न होने पर ध्यान के लाभ प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हों। उपरोक्त विधि से इस प्रक्रिया को शुरू करने में बहुत सहायता मिलती है तथा हम न केवल अध्ययन, लेखन या कला तथा अन्य क्षेत्रों में आशातीत सफलता प्राप्त करते हैं अपितु शारीरिक तथा मानसिक आरोग्य भी सहज-स्वाभाविक रूप में हमें प्राप्त हो जाता है। आम के आम और गुठलियों के दाम। विशेषज्ञों का निष्कर्ष है कि जब भी हम किसी कार्य में सफलता प्राप्त करते हैं तो हमारा स्वास्थ्य भी और अच्छा हो जाता है।

ज़्यादा सोच-विचार या विश्लेषण मत कीजिए। अभी, इसी समय उठाइये काग़ज-कलम और तैयार कर लीजिए अपेक्षित सामग्री। मोटा काग़ज़ (चार्ट पेपर) तथा रंगीन पैन-पैंसिलें हों तो क्या कहने! जीवन में अनोखा रंग भर जाएगा। तो आप प्रारंभ करें आज ही इसी समय। हमारी शुभकामनाएँ आपके साथ हैं।

घरों, विद्यालयों अथवा अन्य शिक्षण संस्थानों में विद्यार्थियों को नैतिकता पर प्राय: लंबे-लंबे भाषण पिलाए जाते हैं जिन्हें विद्यार्थी या तो सुनते ही नहीं अथवा एक कान से सुन कर दूसरे से निकाल देते हैं। दीवारें सूक्तियों से पटी पड़ी होती हैं; जिनका कम असर ही पढ़ने वालों पर पड़ता है। प्राय: लिखा होता है, ''सदा सत्य बोलो'' लेकिन पढ़ने वाला जब तक इस वाक्य को स्वीकार नहीं करेगा कि मुझे सच बोलना है तब तक बात नहीं बनेगी। इस वाक्य की भावना को आत्मसात् करने के लिए अनिवार्य है कि इसकी स्वीकारोक्ति की जाए जो इस प्रकार होगी: ''मैं सदा सत्य बोलता हूँ''। विद्यार्थी अनुशासनप्रिय, अध्यवसायी तथा नैतिक गुणों से सम्पन्न हों इसके लिए निम्नलिखित स्वीकारोक्तियाँ करें या करवाएँ:

1. मैं एक आदर्श विद्यार्थी हूँ जिस पर मेरे विद्यालय को गर्व है।
2. मैं स्वयं अनुशासन में रहता हूँ तथा अन्य सभी को अनुशासन में रहने के लिए प्रेरित करता हूँ।
3. मैं अपने समय का सदैव सदुपयोग करता हूँ तथा रचनात्मक तथा उत्पादक कार्यों में व्यस्त रहता हूँ।
4. मैं अपने शिक्षकों, माता-पिता तथा सभी बड़ों का सम्मान करता हूँ।
5. इस विद्यालय का सर्वस्व मेरा अपना और मैं इस सब की सुरक्षा तथा देखभाल अपनी स्वयं की वस्तुओं की तरह करता हूँ।

—ए. डी.-106-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

गौतम बुद्ध की शिक्षा-नीति

–प्रा. सौ. सुनिता गाजरे

कपिलवस्तु राज्य के शाक्य या क्षत्रियकुल में जन्में सिद्धार्थ बचपन से ही एकांतप्रिय और चिंतनशील थे। ऐहिक सुख का मोह उनको नहीं था। उसके बदले जीवन का रहस्य क्या है? यह जानने की लालसा उनमें ज्यादा थी। उसके लिए उन्होंने सांसारिक सुख का त्याग कर दिया। इस स्थिति को 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।[1] गया के पास अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उनको ज्ञानप्राप्ति हुई और सिद्धार्थ 'बुद्ध' बन गया। सारनाथ में मृगदाव वन में उन्होंने अपना पहला प्रवचन दिया। बौद्धधर्म की स्थापना की। अपने धर्म में अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष ऐसा भेद न करके सबको अपने धर्म में समा लिया।[2] आत्मिकभाव, नैतिकता, विलक्षण बुद्धिमत्ता, दृढ़निश्चयी, समाजसुधारक और नैतिक तत्वज्ञ– ये सब गुण भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व में थे।

गौतम बुद्ध की शिक्षा सीधी और सरल थी। उन्होंने कोई विधि, व्रत वा संस्कार को महत्व नहीं दिया। इहलोक, शाश्वत या अशाश्वत, जीव और शरीर एक या भिन्न, ईश्वर है या नहीं, ऐसे प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश व्यर्थ है और यह अधूरा सच है, यही उनका कहना था।[3] उनकी शिक्षा का सार चार आर्यसत्य में है–

1. दुःख–

यह मानव जीवन दुःखमय है। जन्म, व्याधि, वियोग कष्टप्रद हैं। जीवन में सुख अल्पकाल के लिए आता है।

2. **दुःखसमुदय –**

तृष्णा व लालसा से दुःख निर्मिति होती है।

3. **दुःखनिरोध –**

जीवन में दुःख अपरिहार्य है। तृष्णा का त्याग करना चाहिए, विषयोपभोग की आसक्ति छोड़कर दुःख समाप्त हो सकता है।

4. दुःखनिरोधमार्ग –

दुःख नष्ट करने के मार्ग पर चलना। दुःख नष्ट करने के लिए उन्होंने आठ मार्ग बताए हैं। उन्हें 'अष्टांग मार्ग' कहा जाता है।

1. **सम्यक्दृष्टि –**

व्यक्ति को रोजमर्रा के जीवन में योग्य दृष्टि रखने के लिए सद्सद्-विवेकबुद्धि का विकास करना आवश्यक है।

2. **सम्यक् संकल्प –**

जीवन में अच्छा और शुद्ध विचार करके स्वार्थ, सत्ता, क्रोध, ऐश्वर्य की तृष्णा नष्ट करनी चाहिए।

---

1. प्रा. गायधनी रं. ना. प्राचीन भारताचा इतिहास, के. सागर पब्लिकेशनस, पृ. क्र. 125.
2. कित्ता पृ. क्र. 126.
3. महाजन व्ही. डी. प्राचीन भारत का इतिहास, एस. चन्द., पृ. क्र. 205.

3. **सम्यक् वाक् –**

जीवन में सदैव सत्य बोलना चाहिए।

4. **सम्यक् कर्मांत –**

सत्कर्म से जीवन व्यतीत करना चाहिए।

5. **सम्यक् आजीव –**

सदाचार, सन्मार्ग, ईमानदारी अपनानी चाहिए।

6. **सम्यक् व्यायाम –**

मन में सदा अच्छे विचार लाने चाहिएं।

7. **सम्यक् स्मृति –**

व्यक्ति का इंद्रियों पर संयम आवश्यक है। जीवन में शुद्ध आचारों का विकास करके आत्मसंयम करना चाहिए।[4]

8. **सम्यक् समाधी –**

ध्यानस्थ अवस्था में बैठकर एकाग्रता बढ़ानी चाहिए।

गौतम बुद्ध ने अपनी शिक्षा की भाषा लोकभाषा अपनाई। इसके कारण बौद्धधर्म जन-जन तक पहुँच गया। उन्होंने जातिव्यवस्था का विरोध किया। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलकर शीलसंवर्धन करने का मार्ग बताया। इ. स. पू. ६ शतक में निर्मित एक कर्माधिष्ठित धर्म के अलावा सदाचार और नीति-तत्वों के आधार पर समाज का मार्गदर्शन करने के लिए अष्टांगमार्ग को महत्त्व दिया।[5] मानव-जगत् को सदाचार और नीति पर आधारित मार्ग दिखाया। जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख चक्र से मुक्त होना मानव का लक्ष्य है। कर्मकांड और जातिभेद न बढ़ाकर अपनी शिक्षा से दुःख के कारणों की खोज करनी चाहिए। सदाचार से निर्वाणावस्था प्राप्त करने का सरल मार्ग उन्होंने समाज को बताया।

मानव का जन्म अपने पुनर्जन्म के फल पर आधारित है। कर्म में ही मानव जन्म-मृत्यु के चक्र में फंस जाता है। कर्मबंधन से मुक्त होने पर उसे निर्वाणावस्था प्राप्त होती है। कर्मबंधन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए अच्छे कर्म करने का उपदेश गौतम बुद्ध ने मनुष्य को दिया है।[6]

बौद्धधर्म में गुणकर्म को अधिक महत्त्व दिया है। सत्कर्मों को स्थान दिया है, हर रोज़ के जीवन में पालन करने के लिए अष्टांगमार्ग द्वारा गौतम बुद्ध ने शुद्ध आचार, विचार और कृति को महत्त्व दिया है। मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहकर भी आर्यसत्य, अष्टांग मार्ग, पंचशील और ब्रह्मविहार का पालन करके निर्वाणावस्था प्राप्त कर सकता है। उनके अनुसार अविद्या दुःख का मूल कारण है। उससे छुटकारा पाने के लिए तृष्णा को त्यागकर अच्छे कर्म करने चाहिएं। बौद्धधर्म में उन्होंने लोगों को 'मध्यममार्ग' से शिक्षा दी। सदाचार, अहिंसा, शीलसंवर्धन, सत्य का पालन कर पुण्यकर्म कर रहने की नीति बताई है। उसी कारण बौद्धधर्म की समानता का संदेश सभी मनुष्यों में फैल गया और विश्वधर्म बन गया।

– दयानन्द कॉलेज, सोलापुर (महाराष्ट्र)।

---

4. प्राचार्य कदम य. ना., प्राचीन भारताचा इतिहास, फडके प्रकाशन, कोल्हापुर, पृ. क्र. 92.
5. प्रा. भिडे गजानन, प्राचीन भारत, फडके प्रकाशन, कोल्हापुर, पृ. क्र. 83.
6. कित्ता, पृ. क्र. 84.

संस्कृत-साहित्य में 'माता' का स्थान

– डॉ. विशाल भारद्वाज

संस्कृत-साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। संस्कृत साहित्य में माता की महत्ता का वर्णन स्थान-2 पर किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है माता को देव समझो।[1] स्कन्दपुराण में कहा गया है कि मनुष्य तभी वृद्ध होता है, तभी दुःखित होता है तथा तभी उसके लिए जगत् शून्य होता है, जब उसे माँ का वियोग होता है। माँ के समान छाया नहीं है, माँ के समान कोई गति नहीं है, माँ के समान कोई त्राता नहीं है तथा माँ के समान कोई प्रपा/प्याऊ नहीं है। माँ कुक्षि में धारण करने से धात्री, जन्म देने से जननी, अङ्गों को बढ़ाने से अम्बा तथा वीरपुत्रवती होने से वीरसू कहलाती है।[2]

स्कन्दपुराण में ही लिखा मिलता है कि पतित गुरु त्याज्य है, परन्तु माता त्याज्य नहीं हो सकती, क्योंकि गर्भधारण तथा पोषण के कारण माता का स्थान सर्वोपरि है।[3] महाभारत के 'वन-पर्व' में माता की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि कुछ लोग गुरुता के कारण माता को तथा कुछ लोग पिता को श्रेष्ठ समझते हैं। परन्तु माता ही दुष्कर कार्य करती है, जो सन्तान का पालन पोषण करती है।[4] नराभरण में पाँच प्रकार की माताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि गुरुपत्नी, राजपत्नी, भाभी, पत्नी की माता तथा अपनी माता– ये पाँच प्रकार की माताएँ हैं। अर्थात् इन पाँचों से मातृ-अनुरूप व्यवहार करना चाहिए।[5] नराभरण में ही एक स्थान पर कहा गया है कि माता के समान शरीर को पोषण करने वाली अन्य कोई नहीं है।[6] पुनः नराभरण में ही माता की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिसकी माता घर में नहीं है तथा पत्नी अप्रिय-भाषिणी है, उसे जंगल में चला जाना चाहिए। क्योंकि उसके लिए जैसा वन है, वैसा ही घर है।[7]

चाणक्यसूत्रों में भी कहा गया है कि गुरुओं में माता का सर्वोच्च स्थान है।[8] बालरामायण में पिता की अपेक्षा माता का स्थान अधिक मानते हुए लिखा गया है कि गौरव में माता, पिता से सहस्र

1. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/11.
2. स्कन्दपुराण (मा. कौ.), 6/103-105
3. स्कन्दपुराण (मा. कौ.), 6/107.
4. महाभारत, 205/17.
5. नराभरण, 218.
6. नराभरण, 59.
7. नराभरण, 8.
8. चाणक्यसूत्राणि, 362.

गुणा बड़ी होती है।[9] प्रतिमानाटक में माता की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि पुत्र के लिए माता का हस्त–स्पर्श प्यासे के लिए जलधारा के समान होता है।[10] ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है कि निस्सन्देह अन्य पातकों का प्रायश्चित्त हो सकता है, परन्तु मातृ–द्रोह का कोई प्रायश्चित्त नहीं हो सकता।[11] बृहन्नारदपुराण में मातृ–विहीन पुरुष की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि माता से विहीन पुरुष वैसे ही होता है, जैसे नारायण की भक्ति से विहीन धर्म, भोग वर्जित धन, भार्या तथा पुत्र–शून्य गृह होता है।[12]

अतः लिखा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य में माता को जो उच्च स्थान प्रदान किया गया है, शायद ही किसी अन्य को ऐसा स्थान प्रदान किया गया हो।

– संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव यूनिवर्सिटी, अमृतसर।

9. बालरामायण, 4 / 30.
10. प्रतिमानाटकम्, 3/12.
11. ब्रह्माण्डपुराण, 3/23/67.
12. बृहन्नारदपुराण, 10/ 49.

रामायणकथा का ज्वलन्त सन्दर्भ –

भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यदृष्टियों का अन्तर्द्वन्द्व

– डॉ. चित्रा जैन

मानव सभ्यता के उदयकाल से लेकर आज तक संसार के सभी दार्शनिक एक ही आधारभूत प्रश्न से जूझते रहे हैं। वह प्रश्न है कि सृष्टि का मूल कारण भूततत्व क्या है? इस दिशा में सभी दार्शनिक चिन्तक मोटे-तौर पर दो खेमों में बँटे दिखाई देते हैं। प्रथम वे दार्शनिक हैं, जो सृष्टि का मूल कारण एक नित्य और अखण्ड चेतना को स्वीकार करते हैं। वेदान्तदर्शन इसी श्रेणी में आता है। इनकी दृष्टि में जीवचेतना का सर्वव्यापक एवं पूर्ण ब्रह्म के रूप में विकसित होना। चेतना जैसे-जैसे नये-नये अनुरोधी-विरोधी, सम्वादी और विसम्वादी संकल्पों की सृष्टि करती जाती है। वैसे ही वैसे भौतिक जगत् में नये-नये परिवर्तन होते चलते हैं। दूसरी कोटी में वे दार्शनिक आते हैं जो सृष्टि का मूल कारण भूततत्व (मैटर) बताते हैं।

इस वर्ग के दार्शनिकों को भौतिकवादी व चेतनावादी दार्शनिकों को सामान्यतः अनात्मवादी अथवा भाववादी कहा जाता है।

भौतिकवादी दृष्टि के अधीन भूतत्व से बाहर किसी चेतना, आत्मा या परमात्मा की बात सोची ही नहीं जा सकती। यह भौतिकवादी दृष्टि खुल्लमखुल्ला अनात्मवादी दृष्टि है, जो भौतिक-तत्वों में संघातरूप शरीर और उस शरीर में उदित हुए चेतन से हटकर किसी स्वतन्त्र चैतन्य आत्म-तत्व को स्वीकार नहीं करती। चार्वाकदर्शन भारतीय चिन्तन में भौतिकवाद का सर्वोच्च परिणाम है, जो अपने यर्थार्थवादी चिन्तन के द्वारा वेदान्त जैसे भाववादी दर्शन के सामने खुली चुनौतियाँ फेंकता रहता है। इस भौतिकवादी वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार जड़ तत्वों के बीच रासायनिक क्रियायें होने से जीवन इकाई का उदय होता है जिससे सृष्टि का विकास होता जाता है। इस ओर अधिक न जाते हुए केवलमात्र रामायण जैसे महाकाव्य में एतत्-विषयक विचारधारा का स्पष्टीकरण ही इस लेख की प्रासंगिता है कि रामायण ने किस प्रकार इस को सुलझाया है।

हमारे संस्कृत-साहित्य में रामायण तथा महाभारत दो अनुपम ग्रन्थरत्न हैं, इन ग्रन्थरत्नों में जहाँ कहीं भी जीवन की जटिल परिस्थितियाँ सामने आयी हैं वहीं-2 उनके बार में अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दानों दृष्टियों से खुला विचार किया गया है। जहाँ कहीं अध्यात्म के आवरण में भौतिक यथार्थ का गोपन अथवा

दुर्बलता पर आवरण डालने वाला कोई विचार सामने आया है। वहीं-2 उसके विरुद्ध यर्थार्थवादी भौतिकवाद तथा प्रवृत्तिवाद को शक्ति देकर खड़ किया गया है।

अध्यात्मवादी और भौतिकवादी जीवन-मूल्यों के अन्तर्द्वन्द्व को उद्घाटित करने वाला तथा जटिल परिस्थितियों में एक यर्थार्थवादी जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करने वाला एक ज्वलन्त सन्दर्भ हमें वाल्मीकि-रामायण में वर्णित अयोध्यावासियों की चित्रकूटसभा में मिलता है। परम्परागत अध्यात्मवादी नैतिक मूल्यों के द्वन्द्व से पीड़ित कैकेयीपुत्र भरत राम से अयोध्या लौटकर राजसत्ता ग्रहण करने का आग्रह करता है और राम भरत के इस प्रस्ताव से कतिपय नैतिक मूल्यों के कारण ही सहमत नहीं हो रहे हैं। मूल्यों के इस अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थिति में अयोध्या के मंत्रिमंडल का एक ऋषि सदस्य 'जाबालि' मध्यस्थभाव से राम को अयोध्या वापिस जाकर राज्य की रक्षा करना ही श्रेयस्कर बताते हैं। जाबालि के कथन में उद्देश्य था कि राम एक सशक्त राजा के रूप में अयोध्या की रक्षा कर सकते हैं और उनके अभाव में अयोध्या की रक्षा व उन्नति सन्देह के घेरे में आ सकती है। ऐसी स्थिति में राजा के रूप में अपने माता-पिता की किन्हीं इच्छाओं के समक्ष राज्य और उन्नति को दाव पर नहीं लगाया जा सकता। कैकेयी की योजना ही राम को वन भेज कर राज्यश्री को अशक्त बनाने में कारण प्रतीत हो रही है। दशरथ की भी अपनी इच्छा राम को वन भेजने की कदापि नहीं थी। अब भरत भी राम को सशक्त राजा के रूप में मानते हुए राज्य की अक्षुण्णता के लिए उनसे वापिस चलने को कह रहे हैं।

इस प्रकार राम द्वारा वनगमन एक अध्यात्म- पक्ष है तथा भरत द्वारा राम को वापिस ले जाकर भौतिकपक्ष के समर्थक हैं। किन्तु विचार करने पर यहाँ आध्यात्मिक पक्ष अतिदुर्बल व असंगत है। यहाँ भौतिकपक्ष बलवान् है, जो राम से राज्य की रक्षाहेतु वापिस चलने का अनुरोध कर रहा है। राज्य के हितों और व्यक्तिविशेष के हितों में टकराव होने पर राज्य के हितों को वरीयता दिया जाना भौतिकदृष्टि से सर्वथा उचित है। राज्य एक महान् वस्तु है, उसकी अक्षुण्णता महान प्रयोजन है और उसकी राम द्वारा रक्षा ही महान् धर्म है।

माता-पिता के कथनानुसार वनगमन के मानसिक द्वन्द्व से राम का उभरना ही यहाँ अधिक उचित प्रतीत होता है। जाबालि माता-पिता के साथ जुड़े नैतिकवादी मूल्यों के इस मानसिक द्वन्द्व से राम को बाहर निकालने के लिए ही अपना यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आसक्ति चाहे माता-पिता के प्रति क्यों न हो, कर्मक्षेत्र में उसका कोई महत्व नहीं होना चाहिये क्योंकि कर्म-सिद्धान्त वर्तमान की रक्षा और भविष्य की उन्नति के लिए होता है।

महाभारत में श्रीकृष्ण की नीति तो अर्जुन द्वारा माता-पिता से भी महान् पितामह भीष्म का वध करा रही है और परमादरणीय आचार्य द्रोण आदि को भी तीर के निशाने पर रख रही है। किन्तु अर्जुन कुछ और ही सोच रहे हैं। यही उसका अन्तर्द्वन्द्व था। रामायण में भी वर्तमान में जाबालि राम को मानसिक द्वन्द्व से बाहर निकाल कर माता कैकेयी व पिता दशरथ के औचित्य रहित मनोभावों की सीमा से राम को मुक्त कराना चाहते हैं। यद्यपि यहाँ अर्जुन द्वारा भीष्म, द्रोण जैसे पूज्य तथा वृद्ध पुरुषों को मारने वाली बात नहीं। यहाँ तो केवल माता कैकेयी के कथनानुसार वन न जाकर अयोध्या लौटकर राज्य की रक्षा करना मात्र कार्य है।

अपने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ऋषि जाबालि माता-पिता को आवास मात्र बता रहे हैं। अर्थात् ये सब बातें जीवन यात्रा और कर्मक्षेत्र के साधन ही हैं, साध्य नहीं। अत: इनमें भी आसक्त होना अनुचित ही है (वा. रा. अयो. 108.5.6.)। जाबालि के उस कथन में ही माता-पिता, घर और धन को आसक्ति का कारण बताया गया है। किन्हीं भी माता-पिता की कोई व्यक्तिगत इच्छाएँ यदि कहीं किसी राष्ट्र के पतन के प्रति कारण बनती हैं तो उनका सम्मान कदापि न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। जाबालि का कथन है कि कुल-परम्परा से राजा तो कुछ समय के लिए राष्ट्र के शासक बनते हैं और समयचक्र के साथ-साथ बदलते रहते हैं किन्तु राष्ट्र उन राजाओं से भी कहीं महान् होता है जिसकी रक्षा व उन्नति हेतु ही राजा की शासक के रूप में उपादेयता होती है। इससे स्पष्ट है कि राजा और राष्ट्र में भी राजा साधन ही होता है और राष्ट्र साध्य। रामायण की इसी भौतिकवादी मूल्यदृष्टि की अभिव्यक्ति हम महान् नाटककार भवभूति के उत्तररामचरित के नायक श्रीराम के इस कथन में देखते हैं–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

लोकसाधनाहेतु अगर राजा अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रियतर सूत्रों को भी एक झटके में तोड़कर उसे न्यायसंगत मानता है तो इस कथन में राष्ट्र के प्रति उसकी अटूट आस्था ही अभिव्यक्त होती है, जहाँ राजा के अपने निजी भावों का स्थान नहीं होता। राष्ट्र और राज्य के प्रति राजा के इसी कर्तव्यपथ का उद्‌बोधन करते हुए जाबालि कहते हैं–

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तमः।
आस्थातु कापथं दु:खं विषमं बहुकण्टकम्॥

यहाँ ''पित्र्यं राज्यं'' का आशय क्षात्रधर्मोचित राज्यरक्षा को सर्वोपरि बताना है तथा कापथं का आशय किसी राष्ट्र नायक द्वारा नैतिकवादी आवरण में किन्हीं मानसिक द्वन्द्वों के वशीभूत होकर राज्य को पतन के गर्त में ढकेल देना ही है। दु:खम्, विषमं और कण्टकम् सभी कापथं के विशेषण हैं जो इस कुमार्ग का आश्रयण करने पर अर्थात् पलायन करने पर भविष्य में होने वाले दुष्फल हैं, जो शक्ति से रहित तथा आरक्षित राज्य

के साथ सशक्त शासन के होने पर राज्य के जीवन में आपातत: स्वत: घटित हो जाते हैं।

अन्त में अपनी भौतिकवादी मूल्यदृष्टि के अनुसार ही जाबालि राष्ट्रनायक राम का मार्गदर्शन करते हैं कि राज्यलक्ष्मी तो राजा की पत्नीतुल्य होती है जैसे–पत्नी की रक्षा करना और उसकी समृद्धि का ध्यान रखना पति का कर्त्तव्य होता है, उसी प्रकार राजा का भी सर्वप्रमुख कर्तव्य होता है कि वह अपनी राज्यलक्ष्मी की सर्वथा रक्षा करे।

इस प्रकार जाबालि की भौतिकवादी मूल्यदृष्टि को किसी भी आध्यात्मवादी नैतिक मूल्यदृष्टि से नास्तिक कहकर तिरस्कृत करना उचित नहीं कहा जा सकता। ऋषि ने तो विशुद्ध भौतिकवाद की अपरिहार्यता को प्रतिपादित करते हुए क्षात्रधर्मोचित शास्त्रीय प्रमाणों का ही उपदेश किया है।

रामायण के इस ज्वलन्त सन्दर्भ में दार्शनिक मूल्यों के टकराव की स्थिति में ऋषि द्वारा वशिष्ठ को एक निर्णायक तत्वदर्शी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वशिष्ठ जी के मत का तर्कसंगत परिशीलन करने से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जीवन की विषम परिस्थितियों में सामने आने वाले किन्हीं भी मूल्यवान् विचारों को न तो नास्तिक की मोहर लगाकर हवा में उड़ा देना उचित है और न ही किन्हीं विचारों को आस्तिक मानकर परमसत्य स्वीकार करना उचित है।

मानव मस्तिष्क भौतिक परिस्थितियों का यथार्थ विवेचन करके उचित कर्त्तव्यमार्ग का निर्णय करने की दिशा पकड़ना चाहता है। जहाँ तक नैतिकवादी मूल्यों का प्रश्न है, वे भी भौतिक परिस्थितियों से ही निर्णीत होते हैं। भौतिकवादी मूल्यदृष्टि का यह अर्थ नहीं होता कि उसकी अपनी कोई नैतिकता ही नहीं होती अथवा भौतिक मूल्यदृष्टि से युक्त व्यक्ति नैतिकता को पहचानता ही नहीं। कौशल राष्ट्र के प्रधान अमात्य और राजकुल के गुरु वशिष्ठ के कथन से यही तत्त्व हाथ आता है।

–मानदेय प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, जे. वी. जैन कॉलेज, सहारनपुर (उ. प्र.)।

ईशोपनिषद्-उपदिष्ट नीति की आधुनिक युग में प्रासंगिकता

– डॉ. रूबी जैन

नीति के अनेक अर्थ हैं–यथा मार्गदर्शन, निर्देशन, प्रबन्ध, आचार, आचरण, चालचलन, व्यवहार, शिष्टता, शालीनता, व्यवहारकुशलता, उपाय, युक्ति, कूटयुक्ति, राजनीति, आचार-शास्त्र, आचार-दर्शन, अवाप्ति, अधिग्रहण, उपहरण, प्रस्तुति, सम्बन्ध, सहारा[1] इत्यादि। यद्यपि आज नीतिशब्द प्रायः कार्यसिद्धिहेतु स्वीकृत युक्ति (Strategy) (रणनीति अथवा कूटनीति) अर्थात् छलकपट युक्त उपाय अथवा मार्गदर्शन अथवा प्रबन्धविशेष (Policy) के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है तथापि नीति का मुख्य सम्बन्ध आचार से है। यथा नीतिविद् का अर्थ है किसी काल अथवा परिस्थिति विशेष में स्वीकार्य आचार को जानने वाला। नीतिशास्त्र का अर्थ है आचारशास्त्र। नीतिव्यतिक्रम का अर्थ है आचरण-योग्य नियमों का उल्लंघन। राजनीति का अर्थ है राजा का आचरण अथवा व्यवहार इत्यादि। अतः आचरण के गुणों तथा दोषों का अध्ययन कराना नीति का काम है।[2] परन्तु ध्यातव्य है कि नीति का उद्देश्य यह बताना है कि 'क्या होना चाहिये।' अर्थात् शुभ आचरण कैसा होना चाहिये।[3]

ईशोपनिषद् उपदिष्ट नीति का अर्थ है आदर्श आचरण। यद्यपि उपनिषद्-साहित्य मूलतः ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित साहित्य है तथा मुमुक्षु के लिए कथित है तथापि ध्यातव्य है कि मोक्ष की क्रिया इस जगत् में ही निष्पन्न होनी है। अतः मोक्षपर्यन्त जीव को इस जगत् के पदार्थों से व्यवहार करना ही है। इसलिए इस महत्वपूर्ण प्रश्न कि मुमुक्षु का व्यवहार अथवा आचरण कैसा होना चाहिये जिससे कि उसका अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों सिद्ध हो सकें का उत्तर ईशोपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र में अत्यधिक स्पष्टता से प्राप्त होता है। परन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में एक सामान्य व्यक्ति की समस्याएं नितान्त भिन्न हैं। आधुनिक युग ने जहाँ मनुष्य को अनेकानेक सुविधाएँ दी हैं वहीं साथ ही साथ अनेक समस्याएँ भी दी हैं। इन सब समस्याओं का समाधान हमें ईशोपनिषद् में मिलता है, क्योंकि ईशोपनिषद् की जो मान्यताएँ हैं। (1) यह समस्त चर-अचर जगत् ईश से वासित है।[4] (2) ब्रह्म अथवा आत्मा इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है।[5] (3) सभी प्राणीसमूह ब्रह्मस्वरूप है।[6] (4) कर्म सुख-दुःख रूप फल देने वाले हैं।[7]

1. पद्मचन्द्रकोश, पृ. 473.
2. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ. 6.
3. वही, पृ. 13.
4. ईशोपनिषद्, 1.
5. ईशोपनिषद्, 4.
6. ईशोपनिषद्, 6.
7. ईशोपनिषद्, 2.

(5) आत्मा के विपरीत आचरण दु:ख देने वाला होता है।[8] (6) शरीर नाशवान् है।[9] इन मान्यताओं के आधार पर ही ईशोपनिषद् अपनी आचारमीमांसा प्रस्तुत करता है।

इसके अनुसार व्यक्ति इस जगत् की एक इकाई है तथा जगत् ईश से वासित है। अत: व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रत्येक चर तथा अचर पदार्थ में उस एक सर्वव्यापक शक्ति का दर्शन तथा अनुभव करे। संसार में रहते हुए जीवनयापन करने हेतु इन पदार्थों का भोग करना तो उसकी आवश्यकता है, अत: जागतिक पदार्थ भोग्य हैं। परन्तु यह भोग निरंकुश नहीं होना चाहिये अपितु सीमित तथा मर्यादित होना चाहिये।[10] वस्तुत: आज के भौतिकवादी युग की भोगवादी संस्कृति की समस्या है व्यक्ति की भौतिक लालसा तथा उसके लिए अधिकतम संग्रह करने की प्रवृत्ति का होना। वही लालसा व्यक्ति को एक क्षण के लिए भी विराम तथा विश्राम नहीं करने देती। अंतत: निन्यानवें के फेर में पड़ा हुआ व्यक्ति एक अन्तहीन दौड़ में शामिल हो जाता है जिसका अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है–निरन्तर चिन्ता, अवसाद, निराशा तथा इन सबके कारण उत्पन्न होने वाला रोग। ऐसे समय में ईशोपनिषद् की आचारसंहिता ही उपादेय तथा मार्गदर्शिका है, वही व्यक्ति को राहत दे सकती है कि व्यक्ति किसी वस्तु का भोग तो करे परन्तु त्यागपूर्वक। वह सांसारिक वस्तुओं में इतना आसक्त न हो जाये कि वस्तु के न मिलने पर तड़पने लगे। सही-गल्त का भान भूल जाये और अंतत: इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाए।

अत: उपनिषत् व्यक्ति को अपने कर्मों को, शरीर की नश्वरता को तथा परमात्मतत्त्व को स्मरण रखने का उपदेश देता है।[11] परन्तु ज्ञातव्य है कि इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि संसार में जीवनयापन हेतु धन की आवश्यकता है। अत: धनार्जन का निषेध उपनिषत् नहीं करता, परन्तु यह अवश्य कहता है कि वह धन न्यायवृत्ति से अर्जित किया जाना चाहिए।[12] अत: उपनिषद् व्यक्ति को स्मरण करवाता है कि यह धन किसका है, अर्थात् किसी का भी नहीं।[13] 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का महत्त्वपूर्ण पक्ष हो सकता है कि यदि किसी के पास भोग के साधन पर्याप्त रूप से उपलब्ध हैं तब भी उसके लिए यह मन्त्रांश उसे उदार तथा उदात्त बनायेगा। सम्भवतया त्यागपूर्वक भोग की एक ध्वनि उचित देश, काल तथा पात्र को देकर पदार्थ भोगने से भी है, अर्थात् यथासम्भव धन का परोपकारार्थ प्रयोग करना चाहिए।

एक अन्य समस्या जो आजकल उपस्थित हो रही है वह है आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति। इसका मूल कारण है कि किसी भी कर्म का अपेक्षित फल न मिलना। ऐसा होने पर उसके कर्म में जो एक क्षणिक निराशा की भावना उत्पन्न होती

---

8. ईशोपनिषद्, 3.
9. ईशोपनिषद्, 17.
10. ईशोपनिषद्, 1.
11. ईशोपनिषद्, 17.
12. ईशोपनिषद्, 18.
13. ईशोपनिषद्, 1.

है वह क्षणभर में उसके वशीभूत होकर आत्महत्या जैसा निन्दनीय कर्म कर बैठता है, जिसकी ओर उपनिषद् ने यत्र-तत्र संकेत भी किया है कि ऐसा कर्म व्यक्ति को अन्धेरे की ओर ले जाता है जोकि उसके लिए हानिकारक है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि वह किसी कर्म को करते हुए उसके फल में आसक्ति न रखे। यह उपनिषद् का निष्काम कर्म कहागया है। निष्कार्म कर्म ही मनुष्य के पास एकमात्र मार्ग है।[14] उसी को ध्यान में रखते हुए असफलता के क्षण में निराश न होकर जीवन के प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक पक्ष में उस ब्रह्म की असीम जीवनशक्ति के ही दर्शन करें। उस समय विशेष स्मरण रखने योग्य है कि वह ब्रह्म असीम शक्ति का पुंज है[15] तथा जो तेज उसका है, जो स्वरूप उसका है वही मेरा भी है। व्यक्ति को स्मरण रखना चाहिए कि मैं उस शक्ति-सम्पन्न समष्टि का हिस्सा हूँ, उस का एक अवयव हूँ तथा अवयव अवयवी से भिन्न नहीं होता।[16] अतः मैं वही हूं।[17] इससे व्यक्ति पुनः द्विगुणित उत्साह से अपने कर्म करने में जुट जाये। यहाँ ईशोपनिषद् के मन्त्र में आए हुए 'आत्महनो जनाः' शब्द का अर्थ है असदाचरण करने वाले लोग।[18] परन्तु यदि इसका अर्थ आज के सन्दर्भ में आत्महत्या करने वाले भी साथ-साथ कर लें तो भी शायद अनुचित नहीं होगा। ऐसे में यह मंत्र पूर्वमन्त्र के साथ एक-वाक्यत्व को प्राप्त कर असफल होने पर भी धैर्य धारण करने तथा जीवन धारण करने का आदेश देता दिखाई देगा।

इसी प्रकार एक अन्य समन्वय जो उपदिष्ट है वह है ज्ञान तथा कर्म का समन्वय। वस्तुतः उपनिषद् में मूलतः विद्या-अविद्या तथा सम्भूति तथा असम्भूति[19] को साथ-साथ जानने की बात।

निष्कर्षतः ईशोपनिषद् की आचारमीमांसा अत्यन्त व्यावहारिक, क्रियात्मक तथा आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल होने से शाश्वत सर्वकाल तथा सार्वदेशिक, सर्वग्राह्य एवं विश्व-कल्याणकारी है। क्योंकि यह नीति समन्वयवाद की नीति है तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह का उपदेश देती है।

– डी. ए. वी. कॉलेज, होशियारपुर।

---

14. ईशोपनिषद्, 2.
15. ईशोपनिषद्, 4-5.
16. द्रष्टव्य-न्यायदर्शन।
17. ईशोपनिषद्, 16.
18. दयानन्दभाष्य, शाङ्करभाष्य।
19. ईशोपनिषद्, 12-13-14.

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय

– श्री रमेश कुमार

आचार्य भोज के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण पर विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न टीकाएँ लिखीं हैं। टीका क्या है? इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में निर्दिष्ट किया है– **यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका**[1] अर्थात् यथासम्भव सरल अर्थों को उद्घाटित करना टीका है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार – **टीक्यते गम्यते प्रविश्यते ज्ञायते वानया**'[2] अर्थात् काव्यादि के अर्थों को स्पष्ट करने वाला वाक्य तथा किसी विषय पर विचार-विमर्श करने पर, उसके गुण दोषों के सन्दर्भ में प्रकट की जाने वाली विचारधारा टीका कहलाती है। श्रीतारानाथतर्क-वाचस्पति भट्टाचार्य के द्वारा सङ्कलित 'वाचस्पत्यम्' के अनुसार– **टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया**'[3] अर्थात् टीका के द्वारा दुर्गम ग्रन्थों का अर्थ समझा जाता है। महेश्वरभट्टाचार्य दायभाग ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में दुर्गा को प्रणाम करने के बाद टीका के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–

नत्वा भगवतीं दुर्गां टीकां दुर्गार्थबुद्धये।
कुरुते दायभागस्य भट्टाचार्यमहेश्वरः॥[4]

टीका गुरुणां गुरुः जैसी अनुभवयुक्त पंक्तियों से भी टीकाओं का महत्त्व स्वतः सिद्ध ही है। टीका के अध्ययन से पाठक सरलता से शास्त्र के अभिप्राय को समझ लेता है तथा साथ ही नवीन तथ्यों को समझने में भी सहायता मिलती है। टीका किसी शास्त्र की सरल व्याख्या है और जिस ग्रन्थ पर जितनी अधिक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, उस ग्रन्थ को सरलता से समझने में उतनी ही अधिक सहायता मिलती है तथा उस ग्रन्थ का महत्त्व एवं उपयोगिता भी बढ़ जाती है।

1.1. सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार–

सरस्वतीकण्ठाभरण पर हमें निम्नलिखित दस टीकाकारों द्वारा लिखी गई टीकाओं का उल्लेख मिलता है–

1. रत्नेश्वरमिश्र	रत्नदर्पण
2. जगद्धर	विवरण
3. जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य	व्याख्या
4. लक्ष्मीनाथ भट्ट	दुष्करचित्रप्रकाशिका
5. हरिनाथ	मार्जना
6. हरिकृष्णव्यास	टीका
7. रामस्वामीशास्त्री	हृदयहारिणी
8. भट्टनरसिंह	....
9. आजड	....
10. रामसिंह	....

1. काव्यमीमांसा, अध्याय-2, पृ. 12.
2. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय भागः, पृ. 572.
3. वाचस्पत्यम्, चतुर्थोभागः, पृ. 3188.
4. वाचस्पत्यम्, पृ. 3188.

भोज द्वारा विरचित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण की इन टीकाओं को उपलब्ध एवं अनुपलब्ध के आधार पर दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1.2. सरस्वतीकण्ठाभरण पर लिखित उपलब्ध टीकाएँ।

1.3. रत्नेश्वरमिश्र एवं 'रत्नदर्पण' टीका।

1.2.1.1. आचार्य रत्नेश्वरमिश्र –

महामहोपाध्याय आचार्य रत्नेश्वरमिश्र का जन्म 14वीं शताब्दी में हुआ था। ये मैथिल विद्वान् थे[5], सम्भव है कि इनका जन्म मिथिला (बिहार) में हुआ होगा। इनके विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं।

1.2.1.2. रत्नदर्पण –

इस टीका के लेखक आचार्य रत्नेश्वरमिश्र हैं। प्रो. एस. के. डे. ने अपने संस्कृतकाव्यशास्त्र के इतिहास[6] में एवं डॉ. श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने संस्कृत-वाङ्मय कोष[7] में इसका उल्लेख किया है। रत्नेश्वरमिश्र की यह टीका सरस्वतीकण्ठा-भरण के तृतीय परिच्छेद के अन्त तक ही उपलब्ध होती है।

'रत्नदर्पण' टीका सहित सरस्वतीकण्ठाभरण का सर्वप्रथम प्रकाशन व सम्पादन द्राविड वीरेश्वर शास्त्री ने वैशाख सुदी-8, मङ्गलवार, वि. सं.-1943 को काशी में किया था तथा इसका दूसरा संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्यमाला संख्या-94 के रूप में सन् 1925 ई. में प्रकाशित हुआ। जिसका सम्पादन एवं संशोधन श्री वासुदेव शर्मा ने किया। निर्णयसागर प्रेस से उसी काव्यमाला संख्या में इसका दूसरा संस्करण सन् 1934 ई. में भी प्रकाशित हुआ है।[8] चौखम्बा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला-4 वाराणसी से भी 'रत्नदर्पण' टीका सहित इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन सन् 2006 ई. में हो चुका है।

निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित दोनों संस्करणों में मुख-पृष्ठ पर **रामसिंह-विरचितया तृतीय-परिच्छेदान्तया.........** आदि लिखा है और ग्रन्थारम्भ में रामसिंह के टीकाकार होने का भी उल्लेख है, किन्तु वीरेश्वरशास्त्री ने अपने संस्करण के प्राक्कथन के पृष्ठ-2 पर **इति श्रीमहाराजरामसिंहनरेन्द्राज्ञाकारिणा श्रीमत्क-विवरेण्येन रत्नेश्वरमिश्रेण विरचितां रत्न-दर्पणाख्यां....** आदि लिखा है।[9]

इससे स्पष्ट होता है कि रामसिंह टीकाकार नहीं थे, अपितु रामसिंहदेव की आज्ञा से ही रत्नेश्वरमिश्र ने रत्नदर्पण टीका लिखी थी।[10] तृतीय परिच्छेद के अन्त में **इति श्रीमन्महाराज-श्रीरामसिंहेन महामहोपाध्यायमनीषिरत्ने-**

---

5. अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, पृ. 106.
6. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 128, 129.
7. संस्कृत-वाङ्मय कोष, द्वितीय खण्ड, पृ. 392, 537.
8. भूमिका, स. क. आ., पृ. 17.
9. भूमिका, स. क. आ., पृ. 17.
10. श्रीरामसिंहदेवाज्ञामादाय रचितो मया।
दर्पणाख्यः सदा तेन तुष्यतां श्रीसरस्वती॥ स. क. आ., तृतीय परिच्छेद, पृ. 137.

श्वरेण विरच्य प्रकाशिते दर्पणाख्ये सरस्वती-कण्ठाभरणविवरणेऽर्थालङ्कारस्तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः लिखा है। चतुर्थ परिच्छेद की जगद्धर के 'विवरण' की पुष्पिका में **रत्नं रत्नधरोऽजनिष्ट........** आदि शब्दों से भी रत्नेश्वरमिश्र का टीकाकर्तृत्व सिद्ध होता है।[11] रत्नेश्वर की विद्वत्तापूर्ण इस टीका में अनेक प्राचीन आचार्यों आनन्दवर्धन आदि के मतों को उद्धृत किया गया है।[12] इसी के साथ लेखक ने काव्यप्रकाश पर भी अपनी टीका का उल्लेख किया है।

1.2.2. विवरण–इसके रचयिता जगद्धर हैं।

1.2.2.1. जगद्धर –

आचार्य जगद्धर के पिता का नाम रत्नधर एवं माता का नाम दमयन्ती था। चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में उन्होंने स्वयं अपना परिचय प्रस्तुत किया है तथा स्वयं को नैयायिक भी बताया है।[13] कैटेलॉगस कैटेलॉगोरम् में इनकी वंशावली का वर्णन इस प्रकार मिलता है। जगद्धर > रत्नधर > विद्याधर > गदाधर > रामेश्वर > विद्देश्वर > चण्डेश्वर।[15]

1.2.2.2. विवरण –

सरस्वतीकण्ठाभरण के चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर की 'विवरण' नामक टीका उपलब्ध होती है और यह टीका चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, संख्या-4, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। जगद्धर की इस टीका का समय सम्भवतः 14वीं शताब्दी के बाद एवं 17वीं शताब्दी से पहले का है।[16] चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में भी 'विवरण' टीका के जगद्धर द्वारा निर्मित होने के प्रमाण हैं।[17]

1.2.3. जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य कृत 'व्याख्या'

1.2.3.1. जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य–

पण्डितकुलपति जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य ने संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अपूर्व योगदान दिया है। ये बी. ए. उपाधि से विभूषित हैं।[18] इनके जन्म-स्थान, माता-पिता, परिवार, वंश एवं समय आदि के विषय में पूर्णतः विवरण प्राप्त नहीं होता।

---

11. स. क. आ., भाग-2, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. 334.
12. अलङ्कारशास्त्र का इतिहास, कृष्णकुमार, पृ. 137.
13. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.
14. रत्नं रत्नधरोऽजनिष्ट गुणिनामाद्योऽनवद्यः सतां स शुद्धा दमयन्तिकापि सुषुवे नैयायिकं यं सुतम्।
    तस्य श्रीराजगद्धरस्य कवितुर्वाणीगणालङ्कृतेष्टीकायामुभयप्रकाशनपरिच्छेदश्चतुर्थो गतः॥
    – स. क. आ. परिच्छेद-4, पृ. 334.
15. Catalogus Catologorum, Part–2, Page–195.
16. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.
17. इति महामहोपाध्यायधर्माधिकरणिकश्रीजगद्धरविरचिते सरस्वतीकण्ठाभरणविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः।
    – स. क. आ., भाग-2, पृ. 334.
18. पण्डितकुलपतिना–बी. ए. उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचिता पञ्चमपरिच्छेदव्याख्या समाप्ता। –स. क. आ., परिच्छेद-5, पृ. 684.

1.2.3.2. 'व्याख्या' टीका –

सरस्वतीकण्ठाभरण के पञ्चम परिच्छेद पर हमें जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य की 'व्याख्या' नामक टीका उपलब्ध होती है। इन्होंने आचार्य दण्डी के काव्यादर्श पर 'विवृति' नामक टीका भी लिखी है। सरस्वतीकण्ठाभरण का तीसरा संस्करण कलकत्ता से पण्डित जीवानन्दविद्यासागर ने ही निकाला था। इस संस्करण के पहले तीन परिच्छेदों पर आचार्य रत्नेश्वरमिश्र की 'रत्नदर्पण' टीका मिलती है तथा शेष परिच्छेदों पर इन्होंने अपनी संक्षिप्त टिप्पणी भी जोड़ दी है।[19] पञ्चम परिच्छेद के अन्त में– **पण्डितकुलपतिना-बी. ए.-उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचिता पञ्चमपरिच्छेद-व्याख्या समाप्ता** लिखा होने से भी यह सिद्ध होता है कि इन्होंने ही सरस्वतीकण्ठाभरण के इस परिच्छेद पर 'व्याख्या' नामक टीका लिखी है।

1.2.4. लक्ष्मीनाथभट्ट कृत 'दुष्करचित्रप्रकाशिका'

1.2.4.1. लक्ष्मीनाथभट्ट –

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकारों में लक्ष्मीनाथभट्ट का भी उल्लेख मिलता है। प्रो. एस. के. डे. महोदय के अनुसार लक्ष्मीनाथभट्ट ने उक्त ग्रन्थ पर 'दुष्करचित्रप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है। प्रो. एस. के. डे., कीलहार्न की रिपोर्ट 1880-81 को आधार बनाकर कहते हैं कि 1601 ई. में 'पिंगल-प्रदीप' के लेखक लक्ष्मीनाथ हो सकते हैं।[20] कीलहार्न की पाण्डुलिपि 1660 ई. में तैयार की गई थी तथा बर्नल की 'पिंगलार्थदीपिका' 1632 ई. में तैयार की गई थी।[21] कीलहार्न की रिपोर्ट के अनुसार यदि लक्ष्मीनाथ 'पिंगल-प्रदीप' के लेखक हैं तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनके पिता का नाम रायभट्ट था। रायभट्ट नारायण के पुत्र थे और रायभट्ट के पितामह रामचन्द्रभट्ट थे। लक्ष्मीनाथभट्ट ने 1600 ई. में पिंगल-प्रदीप लिखा था।[22] इनकी पत्नी का नाम लोपामुद्रा है तथा पुत्र का नाम चन्द्रशेखरभट्ट है।[23] वासिष्ठवंशीय लक्ष्मीनाथभट्ट ने प्राकृतपिंगलसूत्र की टीका 'पिंगल-प्रदीप' में भी अपना वंश परिचय दिया है तथा इसके आधार पर लक्ष्मीनाथ की वंशावली का विवरण इस प्रकार है–

रामचन्द्रभट्ट–नारायणभट्ट–रायभट्ट–लक्ष्मीनाथभट्ट–चन्द्रशेखरभट्ट।[24]

रायभट्ट के पुत्र लक्ष्मीनाथभट्ट के विषय में कोई भी ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इनके द्वारा लिखित रचनाओं में 'पिंगल-प्रदीप' का रचनाकाल सम्वत्-1657 है, अतः इनका आविर्भाव काल सं.-1620 से सं.-1630 के

---

19. भूमिका, स. क. आ., पृ.-18.
20. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.
21. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.
22. Catalogus Catalogorum, Page–538.
23. छन्दशास्त्रपयोनिधिलोपामुद्रापतिं पितरम्। श्रीमल्लक्ष्मीनाथं सकलागमपारगं वन्दे॥ वृत्तमौक्तिक, पृ. 290.
24. भट्टः श्रीरामचन्द्रः कविविबुधकुले लब्धदेहः श्रुतो यः श्रीमान्नारायणाख्यः कविमुकुटमणिस्तत्तनूजोऽजनिष्ट। तत्पुत्रो रायभट्टः सकलकविकुलख्यातकीर्तिस्तदीयो लक्ष्मीनाथस्तनुजो रचयति रुचिरं पिंगलार्थप्रदीपम्॥
– द्रष्टव्य, भूमिका-वृत्तमौक्तिक, पृ. 20.

मध्य माना जा सकता है।[25] इनके द्वारा लिखित प्राप्त रचनाओं के आधार पर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि इनका अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र पर एकाधिकार था। इनके विशेषण **सकलोपनिषद्रहस्यार्णवकर्णधार** के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इन्होंने किसी उपनिषद् या उपनिषद् साहित्य पर लेखनी अवश्य चलाई है। लक्ष्मीनाथ ने अपने पुत्र चन्द्रशेखरभट्ट द्वारा रचित 'वृत्तमौक्तिक' पर 'वृत्तमौक्तिकवार्तिकदुष्करोद्धार' नामक टीका सं.-1687 ई. में लिखी है, अत: यह सम्भव हो सकता है कि यह इनकी अन्तिम रचना हो।[26]

1.2.4.2. दुष्करचित्रप्रकाशिका –

इस टीका के कर्ता श्रीलक्ष्मीनाथभट्ट हैं। इसमें उन्होंने टीका की रचना के समय का कोई उल्लेख नहीं किया है, जैसा कि टीका के नाम से ही प्रतीत होता है कि यह टीका विस्तृतपरिणाम वाली न होकर केवल दुर्गम स्थलों का विवेचन मात्र है। इसकी एकमात्र 49 पत्रों की कीटभक्षित प्रति एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के संग्रह में सुरक्षित है।[27] टीका के अन्त में **इति श्रीमद्-रायभट्टात्मजश्रीलक्ष्मीनाथभट्टविरचिता सर-स्वतीकण्ठाभरणालङ्कारे दुष्करचित्रप्रका-शिका समाप्ता** लिखा है, जिससे स्पष्ट होता है कि उक्त टीका के लेखक लक्ष्मीनाथ ही हैं।

इसके अतिरिक्त इन्होंने प्राकृतपिंगलसूत्र पर पिंगलप्रदीप, उदाहरणमञ्जरी, वृत्तमौक्तिक-द्वितीयखण्ड का अंश, शिव-स्तुति, नन्दनन्द-नाष्टक, सुन्दरीध्यानाष्टकम् तथा वृत्तमौक्तिक-वार्तिकदुष्करोद्धार आदि अनेक रचनाएँ लिखी हैं।[28]

1. 3. सरस्वतीकण्ठाभरण की अनुपलब्ध टीकाएँ –

1.3.1. हरिनाथ कृत 'मार्जना'

1.3.1.1. हरिनाथ–

इनके पिता का नाम विश्वधर था। इनके दो भाई थे। जिनका नाम केशव और भानु था।[29] प्रो. डे. ने इनका समय 1690 ई. से पूर्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं है।

1.3.1.2. मार्जना –

प्रो. एस.के.डे. ने हरिनाथ विरचित 'मार्जना' टीका का सरस्वतीकण्ठाभरण पर होना स्वीकार किया है।[30] यह टीका अद्यावधि तिमिराच्छन्न है। हरिनाथ ने आचार्य दण्डी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श पर भी 'मार्जना' नामक टीका लिखी है।[31]

1.3.2. हरिकृष्णव्यास कृत 'टीका' –

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकारों में हरिकृष्णव्यास का नामोल्लेख भी मिलता है। इनका विस्तृत परिचय प्राप्त नहीं है। प्रो. एस. के.

---

25. भूमिका-वृत्तमौक्तिक, पृ. 32, 33.
26. भूमिका-वृत्तमौक्तिक, पृ. 32, 33.
27. भूमिका-वृत्तमौक्तिक, पृ. 33.
28. भूमिका-वृत्तमौक्तिक, पृ. 37.
29. Catalogus Catalogorum, Page–758.
30. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.
31. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 128.

डे. ने इनके द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'टीका' होने का उल्लेख किया है।[32] परन्तु आज तक यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है।

1.3.3. रामस्वामीशास्त्री कृत 'हृदयहारिणी'

श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने रामस्वामीशास्त्री द्वारा लिखित 'हृदयहारिणी' टीका का सरस्वतीकण्ठाभरण पर होना स्वीकार किया है।[33] इनका जीवनवृत्त अद्यावधि अनुपलब्ध है।

1.3.4. भट्टनरसिंह –

श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर भट्टनरसिंह की टीका होने का उल्लेख किया है। इनका जीवन परिचय अद्यावधि अनुपलब्ध है।

1.3.5. आजड –

डॉ. वी. राघवन् ने अपने ग्रन्थ 'भोज़ाज शृङ्गारप्रकाश' में सरस्वतीकण्ठाभरण के एक और व्याख्याकार 'आजड' का उल्लेख किया है।[34] आजड के पिता का नाम त्रिभुवनपाल था तथा इनके पितामह का नाम 'डाल्वनि' था।[35] इसके अतिरिक्त कुछ भी इनके विषय में प्राप्त नहीं है।

1.3.6. रामसिंह–

भरहुत के राजा रामसिंह का भी सरस्वतीकण्ठाभरण पर टीका होने का उल्लेख मिलता है। सरस्वतीकण्ठाभरण के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित दोनों संस्करणों में मुखपृष्ठ पर **रामसिंहविरचितया तृतीयपरिच्छेदान्तया....** आदि लिखा है और ग्रन्थ के आरम्भ में रामसिंह के टीकाकार होने का भी उल्लेख है, परन्तु यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि रामसिंह टीकाकार नहीं थे अपितु रामसिंह की आज्ञा से ही 'रत्नेश्वरमिश्र' ने रत्नदर्पण टीका लिखी थी।[36]

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वरमिश्र एवं इस ग्रन्थ के अन्य टीकाकारों के विषय में सर्वेक्षण करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण के पाँच परिच्छेदों में से प्रथम तीन परिच्छेदों पर महामहोपाध्याय रत्नेश्वरमिश्र कृत 'रत्नदर्पण' टीका, चतुर्थ परिच्छेद पर जगद्धर की 'विवरण' टीका तथा पञ्चम परिच्छेद पर जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य की 'व्याख्या' नामक टीका प्राप्त होती है एवं लक्ष्मीनाथभट्ट द्वारा रचित 'दुष्करचित्रप्रकाशिका' की 49 पत्रों की कीटभक्षित एकमात्र प्रति कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त शेष सभी टीकाओं का उल्लेख मात्र ही विभिन्न स्थानों पर मिलता है पर वे आज तक प्रकाश में नहीं आई हैं यदि प्रकाशित हुई भी हों तो दृष्टि में नहीं आई हैं।

– शोधछात्र, वी. वी. बी. आई. एस. एण्ड आई. एस.,
(पं. यू.), साधु आश्रम, होशियारपुर।

---

32. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस. के. डे., पृ. 129.
33. संस्कृत वाङ्मय कोष, द्वितीय-खण्ड, पृ.-392, 537.
34. द्रष्टव्य, भूमिका, स.क.आ., पृ. 18.
35. Catalogus Catalogorum, Part-2, Page-41.
36. भूमिका, स.क.आ., पृ. 17.

संस्थान-समाचार

दानी सज्जन –

श्रीमती राज रानी,
मकान नंबर 6429, गली नं. 7,
हरगोबिन्द नगर, लुधियाना। 51,00/-

श्री ओ. पी. गुप्ता, ई-7,
गीतांजली एनक्लेव, नई दिल्ली। 3,000/-

श्री अनुराग सूद, म. नं. 30,
सरस्वती विहार, होशियारपुर। 2500/-

श्री के. के. सिंह,
151, मेकर टावरज़ 'ए',
कफ परेड, मुम्बई। 1,000/-

श्रीमती गीता खन्ना, 197,
फेज-1, मोहाली। 500/-

श्री ओम प्रकाश सूद,
राम गली, बहादुरपुर गेट,
होशियारपुर। 500/-

नये आजीवन सदस्य –

श्रीमती पूनम मानिक,
ए-2, माउँट ऐवेन्यू,
होशियारपुर। 5,000/-

हवन-यज्ञ–

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ।

अगस्त, 2014 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परम पूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का संकीर्तन भी नियमित रूप से किया गया।

राष्ट्रपति सम्मान –

पद्मश्री प्रो. ओ. पी. उपाध्याय कुलपति, श्रीगुरु रविदास आयुर्वेद विश्वविद्यालय होशियारपुर को 15 अगस्त स्वतन्त्रता-दिवस पर महामहिम राष्ट्रपति ने उनकी संस्कृति की सेवा तथा संस्कृत-वैदुष्य के लिए सम्मानित घोषित किया। अत: आपको संस्थान की ओर से बधाई दी जाती है।

वधाई –

संस्थान की कंटीन के ठेकेदार श्री गुरवक्श सिंह के सुपुत्र चिरं. शिवशंकर का शुभविवाह आयुष्मती सुमिता रानी के साथ 14-8-2014 को धरमपुर (ऊना) में सम्पन्न हुआ। संस्थान के कर्मिष्ठवर्ग की ओर से बहुत-बहुत वधाई।

– सूचना –

यदि कोई लेखक अपने लेख की सी. डी. तैय्यार करवा कर भेजना चाहे तो कृपया चाणक्य टाईप में कम्पोज़ करवा कर भेजें।

धन्यवाद!

विविध समाचार

➳ **विद्यामन्दिर सीनियर सैकेण्डरी मॉडल स्कूल, शिमला पहाड़ी, होशियारपुर में भारत-संस्कृत-अभियानम्** के सहयोग से संस्कृत-दिवस (श्रावणी पूर्णिमा) के अवसर पर प्रिं. जगतावलीसूद स्मारक संस्कृत-सेवा-सम्मान समारोह का आयोजन रविवार दिनाँक 10.8.2014 सायम् 4.00 बजे पंजाब प्रदेश के वरिष्ठ विद्वानों, समाजसेवियों तथा साहित्यकारों की उपस्थिति में मनाया गया। इस अवसर पर मुख्यातिथि पद्मश्री प्रो. ओम् प्रकाश उपाध्याय, कुलपति, गुरु रविदास आयुर्वेद विश्वविद्यालय, विशिष्ट अतिथि डॉ. गुरदीप शर्मा, सीनेटर पंजाब विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष प्रो. प्रेम लाल शर्मा, विभागाध्यक्ष, वी. वी. बी. आई. एस. एण्ड आई. एस., (पं. यू.) साधु आश्रम, होशियारपुर उपस्थित थे। इस समारोह में 5 प्रमुख संस्कृत-संस्कृति-सेवी नागरिकों को सम्मानित किया गया। इस अवसर पर सभी वक्ताओं ने संस्कृत-भाषा तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा पर अपने-अपने विचार व्यक्त किए।

➳ **भारतीय पेट्रोलियम संस्थान में 44वीं आंतरिक हिन्दी वैज्ञानिक संगोष्ठी का आयोजन–**

भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून के राजभाषा अनुभाग द्वारा आयोजित आंतरिक हिन्दी वैज्ञानिक संगोष्ठियों के क्रम में **44वीं आंतरिक हिन्दी वैज्ञानिक संगोष्ठी** का आयोजन संस्थान के सी. वी. रमन व्याख्यान-कक्ष में किया गया।

संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए वरिष्ठतम वैज्ञानिक डॉ. एस. एम. नानोटी ने कहा कि विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे युवाओं के लिए इस प्रकार की संगोष्ठियों में बहुत कुछ मिल सकता है। यहां का सीखा हुआ ज्ञान उन्हें भविष्य में कुछ करने के लिए प्रेरित करता रहेगा।

संगोष्ठी का संचालन करते हुए संगोष्ठी के संयोजक तथा संस्थान के राजभाषा अनुभाग के प्रभारी डॉ. दिनेश चन्द्र चमोला ने कहा कि जब भाषाएँ अनुवाद के माध्यम से आगे बढ़ती हैं तो मूल अभिव्यक्ति के भावसंप्रेषण के क्षरण की संभावनाएँ अधिक होती हैं। हमारे वैज्ञानिकों को मूलरूप से हिन्दी में अपने आलेख, वक्तव्य तैयार करने चाहिएं जिससे विज्ञान लेखन को अधिक बल मिलेगा।

प्रस्तुति सत्र में 'सी. ओ. टू. पृथक्करण तथा प्रच्छादन हेतु समाकलित दृष्टिकोण (उपागम)' विषय पर डॉ. उमेश कुमार, 'अपॉर्चुनिटी कच्चे तेल' विषय पर सुश्री रश्मि, 'एस्फॉल्ट रॉक द्वारा बिटुमिन निर्माणः एक अध्ययन', विषय पर कमल कुमार, 'ग्रैफीन ऑक्साइड से जुड़े रुथेनियम त्रिनाभिकीय संकुल द्वारा दृश्यप्रकाश की उपस्थिति में कार्बन डाइऑक्साइड का मेथेनोल में प्रकाश अपचयन' विषय पर पवन कुमार, 'शैवाल से उन्नत जैव ईंधन/ऊर्जा उत्पाद', विषय पर सुश्री जयति त्रिवेदी आदि ने अपनी प्रभावी प्रस्तुतियाँ दीं।

– डॉ. दिनेश चन्द्र चमोला,

डी. लिट. प्रभारी, राजभाषा अनुभाग भारतीय पैट्रोलियम संस्थान, देहरादून-248005

विविध समाचार

मीठे पेय के अधिक सेवन से स्मरणशक्ति घटने का खतरा –

वाशिंगटन : किशोरावस्था में मीठे पेय पदार्थों के अधिक सेवन से स्मरणशक्ति के कम होने का खतरा पैदा हो जाता है। शोधकर्त्ताओं ने इस संबंध में चूहों पर प्रयोग किया। उन्होंने पाया कि जिन चूहों को रोजाना मीठा पेय दिया गया उनकी स्मरणशक्ति कम हो गई। इस शोध को यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया के शोधकर्त्ताओं द्वारा किया गया।

2040 तक दुनिया में पानी की कमी की सम्भावना –

लंदन : दुनिया में 2040 तक पानी की कमी हो जाने का अंदेशा है। 3 साल तक चले इस शोध में पानी की बर्बादी रोकने का सुझाव दिया गया है। इसके अनुसार यदि ऐसा नहीं किया गया तो 2040 तक दुनिया में लोगों की प्यास बुझाने लायक पानी नहीं बचेगा। अधिकतर देशों में पानी की ज्यादा खपत बिजली बनाने में हो रही है क्योंकि ऊर्जा संयंत्रों को ठंडा रखने के लिए पानी की जरूरत पड़ती है।

लम्बी उम्र के लिए रोज़ खाएँ फल, सब्जियाँ –

अमेरिका : यदि आप रोगमुक्त, खुशहाल और लम्बी ज़िन्दगी जीना चाहते हैं तो अपने आहार में फलों और सब्जियों की मात्रा बढ़ाकर प्रतिदिन कम से कम 5 खुराक लीजिए। एक नए शोध के मुताबिक फल और सब्जियों के अधिक सेवन से सभी तरह की बीमारियों, खासतौर से दिल की बीमारियों के कारण होने वाली मृत्यु का खतरा कम होता है। शोधकर्त्ताओं के अनुसार फलों और सब्जियों का अधिक सेवन स्वास्थ्य और आयु को बढ़ावा देता है।

स्वतन्त्रता दिवस –

स्वतन्त्रता-दिवसके उपलक्ष्य में पंजाब विश्वविद्यालय पटल के पुस्तकालय के प्राङ्गण में उपस्थित जनसमूह के समक्ष प्रो. डॉ. कृष्णा सैनी ने विश्वेश्वरानन्द संस्थान में राष्ट्रीयध्वज फहराया तथा अपने संबोधन में उन्होंने स्वतन्त्रता के महत्त्व पर प्रकाश डाला।

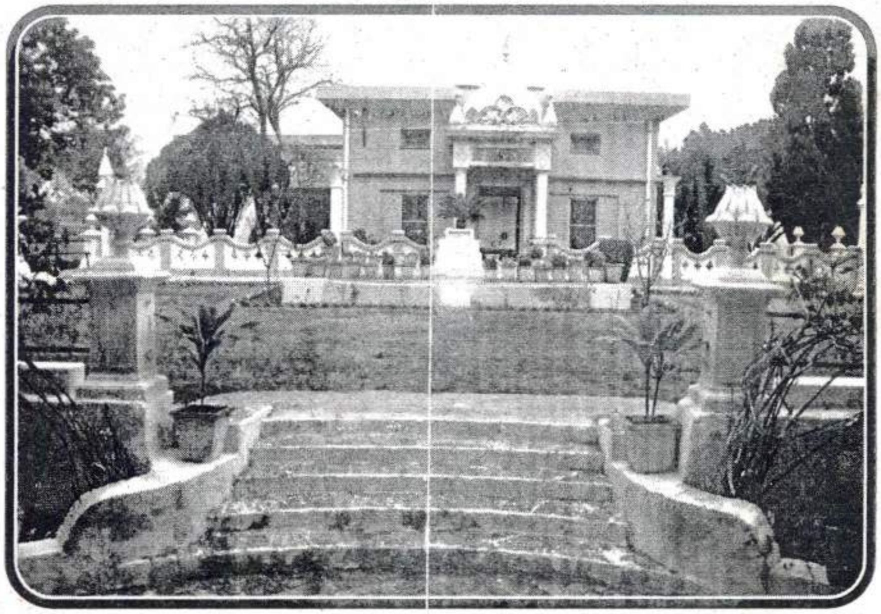

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक
प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम,
होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-८-२०१४ को प्रकाशित।